भारतीय साहित्य

(आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ का मुखपत्र)

जुलाई १९५७

[वर्ष–२ : अंक–३]

सम्पादक

डा० विश्वनाथ प्रसाद

अध्यक्ष

आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ आगरा

प्रकाशक

डा० विश्वनाथ प्रसाद

अध्यक्ष, आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ आगरा

मुद्रक

एच० के० कपूर, आगरा यूनीवर्सिटी प्रेस, आगरा

[प्रकाशन तिथि, दिसम्बर १९५७]

विषय-सूची

भारतीय साहित्य

आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ का मुख पत्र

वर्ष २] जुलाई १९५७ [अंक ३

डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन'

जनपदीय शब्दावली

पैट्रिक कारनेगी कृत कचहरी टैकनीकलिटीज़ का हिन्दी अनुवाद

अंक अथवा आँक— सं० चिह्न, इकाई, संख्या, कुल जोड़, भाग (केन्द्रीय दुआब); —**बन्दी**-प्रत्येक फसल की कटाई के बाद मालगुज़ार द्वारा आसामीवार मालगुजारी का व्यवस्थितीकरण; —**दार**-पैतृकता द्वारा भूमि-अधिकार में हिस्सेदार जिसे जोतवाली धरती समान भाग में बाँटी जाती है।

अंजन—सं० प्राय: चारे की भाँति काम आने वाली एक घास।

अंजना—सं० एक घटिया किस्म का चावल।

अंजान—वि० अनजान, अज्ञान, भोला-भाला।

अंजाम—सं० अन्त, समाप्ति; —**देना**-कर्तव्य पालन करना।

अंतर्बेद—सं० निचले दुआब का प्राचीन नाम जो इटावा से इलाहाबाद तक फैला हुआ था। कभी-कभी गंगा और यमुना नदियों के मध्यवर्ती संपूर्ण दुआब के लिए भी 'अन्तर्बेद' शब्द का प्रयोग होता है।

अँकरी—सं० लोहे का टेढ़ा काँटा।

टि० [**'अँकरी'** को अलीगढ़ की जनपदीय बोली में **'करवा'** कहते हैं। यह हल का फाला रोकने के लिए पनिहारी के ऊपर लगाया जाता है।]

अँगरेज़ी—वि० इँगलिश, अवध में नवाबी से पृथक् एक विशिष्ट समय के लिए भी यह शब्द प्रचलित है ।

अँगवार—सं० गाँव के एक छोटे हिस्से का मालिक (पूर्वी अवध तथा बनारस); खेती में पारस्परिक सहायता (अवध), इसे **दँगवार**, **हरी**, **हरसोत**, या **जीत** भी कहते हैं ।

टि० ['**हरसोत**' शब्द संस्कृ० 'हलीषा+योक्त्र' से विकसित है । 'जित्य' शब्द को पाणिनि ने अष्टाध्यायी (३।१।११७) में 'हल' के अर्थ में लिखा है । अलीगढ़ जिले में मोटी और भारी पनिहारी तथा फाले का हल '**हरी**' कहाता है जो ईख की जुताई में काम आता है ।]

अँगौंगा—सं० खलिहान में से ब्राह्मण, पुरोहित गुरु, चरवाहा और ग्राम-देवता के नाम उठा कर रखा हुआ अनाज (बनारस) । उत्तरी-पश्चिमी जिलों में इसे **सिआवदी** या **ठप** और बुन्देलखण्ड में **अंजलि** कहते हैं । अँगौंगा बँटने से राम तुलने तक पैर (खलिहान) में सब चुप रहते हैं और बहुत-सी धार्मिक रीतियाँ बरती जाती हैं ।

टि० ['**अँगौंगा**' को अलीगढ़ जिले की जनपदीय बोली में '**स्यावड़ी**' कहते हैं ।]

अँगौरीआ—सं० मजदूरी के बदले हल-बैल लेकर खेती करने वाला हलवाहा (बनारस) । **जीतरा** (बुन्देलखंड और रुहेलखंड) ।

टि० [यह शब्द '**अँगौरिया**' उच्चारण के साथ भी चालू है । संस्कृ० जित्वर > जीतरा]

अँघराई—सं० पहले समय में पशुओं पर लगने वाला एक कर ।

अँजला—सं० कर-संपुट; खुले हुए दोनों हाथों को आपस में मिलाकर कटोरे की भाँति बनाई हुई आकृति ।

टि० [इसके लिए अलीगढ़ में **पस**' शब्द भी प्रचलित है ।]

अंजली—सं० 'अँजला' अर्थ में, किन्तु विशेष रूप से बुन्देलखंड में प्रचलित । मिले हुए दोनों हाथों को माथे से लगाते हुए प्रणाम करने का एक ढंग । दे० **अँगौंगा** ।

अक़द—सं० ठेका; इकरारनामा;—**बन्दी**-ठेके का तै करना;—**इ बै**-बिकरी का ठेका; —**इ तहरीरी**-लिखित ठेका;—**इ ज़बानी**-मौखिक ठेका ।

अटिआ—सं० दान, जागीर;—**दार**-जागीरदार, **धलग्रन्त** भी;—**शाही**-सरकारी जागीर ।

अदम—सं० अभाव, अनस्तित्व;—**हाज़िरी**-उपस्थिति का न होना;—**पैरवी**-देख-रेख का न होना ।—**सबूती** अथवा—**इ सबूत**-प्रमाण का अभाव ।

अदल—सं० न्याय, निष्पक्षता; —पनाह—न्याय का रक्षक।

अदालत—सं० न्यायालय; —**बादशाही**—राज-न्यायालय; —**दीवानी**—वह अदालत जिसमें जायदाद, रुपये आदि के झगड़ों का फैसला होता है; —**फौजदारी**—वह अदालत जिसमें गाली-गलौज, मारपीट, कत्ल आदि के झगड़ों की सुनवाई होती है; —**खफ़ीफ़ा**—छोटी रक़मों के दावे सुनने वाली अदालत; —**माल**—लगान, मालगुज़ारी आदि के मुक़द्दमें सुननेवाली अदालत; —**मातहत अथवा ताबी**—अधीन न्यायालय; —**मुख्तार**—उचित अधिकारों के सम्बन्ध में निर्णय देने वाली अदालत; —**मुराफ़इ ऊला**—वह अदालत जिसमें मुकद्दमे की पहली घटना सुनी जाय; ; —**मुराफ़इ सानी**—अपील (साग्रह प्रार्थना) सुननेवाली अदालत।

अबस—वि० व्यर्थ, निरर्थक, लाभहीन।

अमदन—क्रि० वि० इच्छापूर्वक, विचारपूर्वक, जानबूझकर।

अमलदस्तक—सं० **अमलसनद** अथवा **अमलपट्टा**—कार्य करने के लिए कारिन्दे को दिया जाने वाला अधिकारपत्र जिससे वह लगान, मालगुज़ारी, किराया आदि वसूल करता है।

अर्ज़ दाश्त—सं० लिखित प्रार्थना, प्रार्थनापत्र।

अर्ज़ी दावा—सं० दीवानी या माल के मुक़द्दमे में वादी पक्ष का प्रार्थनापत्र।

अर्ज़ी मरम्मत—सं० आवेदनपत्र के दोष-निवारण अथवा सुधार के लिए दिया हुआ प्रार्थनापत्र।

अर्फ़—पुकारने का नाम, उपनाम; दे० उर्फ़

अला-हाज़-अल-क़यास—क्रि० वि० उसी प्रकार, उसी रूप में।

अहद—सं० प्रण, इक़रारनामा, ठेका; —**दार**—ठेकेदार; मुगल राज्य का एक अफसर जो दो या तीन प्रतिशत दस्तूरी पर ज़िले की मालगुजारी वसूल करता था और बचत के लिए स्वयं उत्तरदायी था; —नामा-इकरारनामे से सम्बन्धित प्रमाण-पत्र; —शिकनी-ठेके का तोड़ना।

अओकान—सं० अनाज और भूसा मिला हुआ ढेर (बनारस)। दे० गौटह।

टि० [अओकन के लिए अलीगढ़ की बोली में **गाँठा** शब्द प्रचलित है। गाँठे में से जब कुछ अनाज निकाल लिया जाता है, तब मिश्रित रूप में अवशिष्ट अनाज और भुस **साँठा** कहाता है।]

अओखल—सं० खेती के काम में आई हुई परती धरती।

अकरा अथवा **अँकरी**—सं० मसूर से मिलता-जुलता एक पौधा या घास जो चारे के काम आती है। यह घास बैसाखिया फसल (गेहूं, जौ आदि) के पौधों से लिपटकर उसकी बढ़वार (वृद्धि) रोक देती है।

अकैआ—सं० सामान लादने का थैला, गौन, टोकरा ।

टि० [अनाज भरने का दुतरफा थैला जो प्रायः गधे की पीठ पर लादा जाता है अलीगढ़ की बोली में गौन या गौनि (संस्कृ० गोणी) कहाता है। पाणिनि ने 'गोणी' (अष्टा० ४।१।४२) शब्द का उल्लेख किया है। छोटी गौन के लिए अष्टाध्यायी में 'गोणीतरी' (कासूगोणीभ्यांष्टरच्, ५।३।९०) शब्द आया है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का (पाणिनिकालीन भारतवर्ष, प्रथम संस्क०, पृ० १४९) कथन है कि 'गोण से बने हुए आवपन या थैले को गोणी कहा जाता था (४१।४२)। वैदिक साहित्य में 'गोण' शब्द नहीं मिलता, किन्तु दीघ निकाय के ब्रह्मजालसुत्त में गोणक शब्द आया है जो लम्बे बालों वाले बकरों के बालों से बना हुआ मोटा ऊनी वस्त्र होता था']

अकोर—सं० घूस; जिस गाय या भैंस का बच्चा मर जाता है उसे न्यार (चारा) खाने को फुसलाने के लिए चारे पर कुछ आटा या चोकर डालते हैं। वह आटा या चोकर 'अकोर' कहाता है, (बनारस में तोरीआ)। 'अकोर' को कभी-कभी 'कोर' भी बोलते हैं। खुले मैदान में काम करने के बाद मजदूर मध्यावकाश में जो खाना खाते हैं, वह 'कोर' कहाता है।

टि० ['अकोर' के सम्बन्ध में अलीगढ़ में एक लोकोक्ति प्रचलित है—"हाकिम हैके खाइ अकोर। ताहि जाइ गहरे में बोर।" "लोभ पाप कै नदी अँकोरा" डा० माता प्रसाद गुप्त, पदमावत, प्रथम संस्क०, ६२४।१]

अखज़—सं० पकड़, ग्रहण, माँग; —इ बेजा-नियम विरुद्ध पकड़ या माँग ।

अखतीज—सं० वैशाख शुक्ला तृतीया। इस दिन किसान रबी की फसल के लिए धार्मिक नियमानुसार कुछ अनाज उठाकर रखते हैं। खरीफ की फसल के लिए ऐसा नियम दिवाली के दिन बरता जाता है। दिवाली के दिन ही पिछली फसल का हिसाब किया जाता है। दे० 'बड़ा भाव'

अखतीज के दिन खेतो के औज़ारों का बनवाना शुभ माना जाता है। इसी दिन नया अनाज खाने से पहले ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता है। प्रायः सभी शंकालु मनुष्य ऐसा करते हैं। सौभाग्य-प्राप्ति के लिए उस दिन खेत में हलका-हलका हल चला दिया जाता है, लेकिन उस दिन बीज बोना शुभ नहीं माना जाता। यदि उस दिन विशेष योग हो तो बो देते हैं।

"पूस अमावस मूल बिन, बिन रूहिन अखतीज ।
स्रवन बिहूनी सावनी, बृथा न बोवो बीज ।।"

अर्थात यदि पूस की अमावस्या मूल नक्षत्र में, अक्षय तृतीया रोहिणी नक्षत्र में और सावन की पूर्णिमा श्रवण नक्षत्र में नहीं पड़तीं तो अपने बीज को

व्यर्थ खेतों में न फेंको। उन अशुभ दिनों बोया हुआ बीज खेत में कदापि न उगेगा।

अखबार—सं० समाचार पत्र; अ० 'खबर' (=समाचार) का बहुवचन; नवीस—पत्रकार।

अखराजात—दे० इखराजात

अगइआ—सं० धान में लगने वाला एक रोग जो पौधे को सुखा देता है।

अगर—सं० एक लकड़ी जिसमें सुगंध होती है; सुगन्धित द्रव्यों में यह एक मुख्य द्रव्य है जिसकी बत्तियाँ जलने पर बहुत सुगन्ध देती है; ऊद।

टि० [संस्कृ० अगरु > अगर]

अगराघरा—सं० ब्राह्मणों को मिले हुए गाँव जो मालगुज़ारी आदि करों से मुक्त थे।

अगरौहरी—दे० अजौरी।

अगवार—सं० नाई, कहार, चमार आदि गाँव के नौकरों को देने के लिए खलिहान में रास (संस्कृ० राशि) में से पहले से अलग निकाला हुआ अनाज; हलवाहे को अनाज के रूप में दिया हुआ पुरस्कार; ग्रामीण प्रथानुसार अगवार सर्वत्र निश्चित और एक-सा होता है।

अगवासी—सं० हल का फाला।

टि० [अलीगढ़ की बोली में इसे '**फारो**' कहते हैं। जिस नोकदार, भारी और मोटी लकड़ी पर फाला जमाया जाता है, वह अलीगढ़ में **पनिहारी** कहाती है। पनिहारी की गड्ढेदार लम्बी झिरी जिसमें फाला रखा जाता है **घाई** कहाती है। पनिहारी का पिछला भाग जो हल के कुड़ के छेद म फँसा रहता है **पया** कहाता है। छोटी पनिहारी **जबुरिया** कहाती है। पनिहारी और जबुरिया को भोजपुरी बोली में क्रमश: **नौहरी** और **खुटहरी** कहते हैं। कुड़ के छेद में पये के ऊपर जो लकड़ी का फाना लगता है, उसे अलीगढ़ में **पचमासा** कहते हैं। पचमासे के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है—

"बोल्यौ भैयनु ते पचमासौ।
राई बढ़ूँ घटूँ नहिं मासौ॥
जो पनिहारी संग बिछोवै।
बन्दो सरकि कूँड़ में सोवै॥"

—(तहसील कोल से प्राप्त)

अगवासी अर्थात् फाले से खेत में बनी हुई गड्ढेदार रेखा **कूँड़** कहाती है। '**फारा**' या '**फाला**' शब्द बहुत प्राचीन परम्परा से प्राप्त है। ऋग्वेद (४-५७-८) में 'फाल' शब्द आया है—"शुनं न: फाला विकृषन्तु भूमिम्—ऋक्० ४-५७-८) अर्थात् हमारे फाले अच्छी तरह से धरती को जोतें।]

अगिआ—सं० बैंगनी फूल की एक घास जो दूसरे पौधों और घासों को जला देती है। यह कोदों, ज्वार और ईख के पौधों को मार देती है लेकिन **तुआर** (अरहर अलीगढ़ में) को हानि नहीं पहुँचा सकती।

टि० [अगिआ नामक घास को अलीगढ़ में **अगिन** या **घास** या **अगिनबूटी** भी कहते हैं।]

अगोर अथवा अगोरिआ—सं० खेत की फसल की रखवाली करने वाला (यह शब्द मुख्यत: बनारस में और कभी-कभी उत्तरी-पश्चिमी संयुक्त प्रान्त में प्रचलित है); —**बटाई**–फसल कटने के उपरान्त सरकार और किसान के बीच में किया हुआ फसल या अन्न का बटवारा (विभाजन)।

अगौर—सं० लगान की पेशगी जो जेठ-असाढ़ में आसामी द्वारा ज़मीदार को दिया जाता था।

अघनी—वि० अगहन मास की पैदावार।

अघाट—सं० अपृथक्ता एवं निरन्तरता रूप से रहने वाली भूमि।

अछूता—वि० अस्पृश्य; अत्याज्य।

अजमूद—सं० अजमोद; खुरासानी अजवाइन।

अजवाइन—सं० एक प्रकार का मसाला या दवा जिसे घोड़े के व्यापारी अधिक उपयोग में लाते हैं।

अजार अथवा इजार—सं० रहन की बिकरी; ठेका; पट्टा; लगान; लगान या माल-गुज़ारी वसूल करने का एक ढंग जिसमें फसल पर रोक लगा दी जाती थी; दे० **नाज़िम**।

अजोरी—सं० (पूर्वी अवध) अथवा **अगरौहरी**—खेती के मज़दूरों को दी जाने वाली पेशगी।

अजौली—सं० खलिहान की रास में से निम्न जातियों को दान रूप में दिया जाने वाला अन्न (बनारस); यह शब्द '**अंजला**' या '**अंजली**' (=पस भर अन्न का परिमाण) से व्युत्पन्न है।

टि० [दोनों हाथों को मिलाकर जब कटोरे की-सी आकृति बनाली जाती है, तब उसे '**पस**' (अलीगढ़ में) कहते हैं। एक पस में जितना अन्न (अथवा कोई अन्य वस्तु) समाता है, उस परिमाण को **पसभर** कहते हैं। पस का आधा (एक हाथ का बना हुआ कटोरीनुमा आकार) **खौंच** कहाता है। खुला हुआ तथा लम्बा खौंच **लप** बोला जाता है। ये शब्द अलीगढ़ की ब्रज बोली में आज भी प्रचलित हैं। संस्कृ० प्रसृति (प्र+सृ+क्तिन्) > पसइ > पस।]

अटा अथवा **अटारी**—सं० मकान की ऊपरी मंजिल का कोठा या कमरा।

टि० [संस्कृ० अट्ट (अमर० २-२-१२) > अटा; 'याते गरे न नैन मेह हैं अवधि अटा पर छाये'—सूरसागर, नागरी प्रचारिणी सभा बनारस, प्रथम संस्कृ० पद ३१९१]

अठमास—सं० असाढ़ से माघ तक निरन्तर जुतने वाला खेत जो प्राय: ईख के लिए जुतता है, (शब्दार्थ आठ बार जुता हुआ)।

अठोरी—सं० भजन करने की माला जिसमें १०८ मूँगे (दाने) होते हैं।

अडीउ—सं० अदेय सम्पत्ति।

अढ़तिआ—सं० दलाल; आढ़त (दूसरे के माल को कमीशन लेकर बिकवा देने का रोजगार) का कारोबार करने वाला।

टि० ['अढ़तिआ' को अलीगढ़ में 'आढ़तिया' या आढ़ती भी कहते हैं। संस्कृ० आढ़क=नाप का विशेष पात्र, नाप की विशेष तोल। कौटिल्य के अनुसार चार प्रस्थ अर्थात् १६ कुड़व अर्थात् ४० छटाँक का एक 'आढ़क' था। ब्रज बोली के **'अढ़इया'** या **'ढइया'** (ढाई सेर का एक वज़न विशेष) शब्द के मूल में संस्कृ० का 'आढ़क' शब्द ही है।]

अड़ारी—सं० खेत की एक पुरानी नाप; एक अड़ारी दो बीघे के बराबर थी यद्यपि वर्तमान नाप के अनुसार कुछ अधिक बैठती है, किन्तु खेत वाला उस नाप में कुछ परिवर्तन नहीं चाहेगा। (बनारस)।

अतरपाल—सं० ('अंतरपाल' अधिक शुद्ध है) खेत जिसमें एक बार खेती हो गई हो और फिर छोड़ दिया गया हो (केन्द्रीय तथा निम्न दुआब)।

अथमना—सं० पश्चिम दिशा (दिल्ली), **'ऊगमना'** (पूरब दिशा) का विपर्यय।

अथवारी—सं० बोने के लिए एक हल का ऋण।

अथल—सं० मालगुज़ारी वाला खेत या कृषि क्षेत्र।

अदब—सं० शिष्ट व्यवहार, नम्रता; सामान्यत: बहुवचन (आदाब) में आदर पूर्वक अभिवादन के समय प्रयुक्त होता है, जसे 'आदाब अर्ज करता हूं।'

अदा—सं० भुगतान; **—इ मालगुज़ारी**–सरकारी कर का देना; **—इ शहादत**–सबूत का देना; **—इ ज़र इ डिगरी**–कर्ज के निर्णय का सन्तोष; **—करना**–देना; **—श्रो बेबाक करना**–पूर्णत: भुगतान करना; **—बन्दी**–किस्तों में भुगतान करने के लिए समय का निश्चय।

अदूनिजिमनम—सं० पट्टेवाला भूम्यधिकार जिसमें कि कारीगरों को उनके काम की मजदूरी रकम (रुपयों) में न दी जाकर स्थान के रूप में दी जाती थी।

अधकछा--सं० सहारनपुर जिले की मिट्टी जो पहाड़ी भूमि और तराई भूमि (पहाड़ के पास की निम्न भूमि जहाँ तरी रहती है) के बीच में होती है।

अधकरी--सं० मालगुजारी या लगान की क़िस्त जो रुपये में आठ आने के हिसाब से दी जाती है।

अधबटाई--सं० खेत की पैदावार का आधा-आधा हिस्सा जो ज़मीदार और किसान में बँटता है। ज़मीदार कर के रूप में किसान से आधा लेता है।

अधिआर--सं० जब एक मनुष्य आधा समय एक गाँव में और आधा दूसरे गाँव में बिताता है, तब वह व्यवस्था अधिआर कहाती है;—**करना** आधी-आधी व्यवस्था करना; (रुहेलखण्ड में '**अधार**')। '**अधिआर**' और '**पाहीकाश्त**' में अन्तर है। जब एक किसान अपने निजी गाँव में रहता है और केवल खेती करने के लिए दूसरे गाँव में जाता है, तब वह व्यापार (काम) **पाहीकाश्त** कहाता है।

अधिआरी--सं० आधा हिस्सा।

टि० [इसे अलीगढ़ में '**आधबटाई**' कहते हैं। **आधबटाई** की खेती में ज़मीदार और किसान अन्न और भुस आधा-आधा बाँट लेते हैं। '**आधबटाई**' पर गाय-भैंस आदि भी चुगने के लिए दी जाती हैं। कभी-कभी किसान अपनी बछिया को चरने के लिए किसी ग्वालिये को दे देता है। कुछ समय उपरान्त जब वह गाय रूप में गाभिन हो जाती है, तब एक दिन गाय और गाय की कीमत निश्चित कर दी जाती है। किसान की इच्छा प्रधान और प्रथम मान्य होती है कि वह चाहे गाय लेले और उसकी कीमत ग्वालिये को दे दे और चाहे कीमत लेले और गाय ग्वालिये को दे दे। यह व्यापार भी '**आधबटाई**' कहाता है।]

अधिकारी—सं० स्वामी; मालिक; अधिकार रखने वाला।

अधेला—सं० पैसे के आधे मूल्य वाला एक सिक्का जो १२½ दाम या ४ दमड़ी के बराबर होता है।

अधेलिया अथवा **अधिया**--सं० आधे हिस्से का मालिक।

अधेली—सं० अनाज की एक नाप जो **चौथइया** की आधी होती है (सागर); खेत का भिन्नात्मक विभाजन (गढ़वाल); अठन्नी।

अनंदी—सं० चहोरा धान (एक जगह बोकर फिर अन्यत्र रोपा जाने वाला धान) की एक घटिया किस्म।

अनाज—सं० अन्न; साधारणतया इसे 'नाज' बोलते हैं।

टि० [संस्कृ० अन्नाद्य > अनाज > नाज]

संकेत-परिचय

अव्य०	=	अव्यय
एक०	=	एक वचन
क्रि०	=	क्रिया
क्रि० वि०	=	क्रियाविशेषण
टि०	=	टिप्पणी
दे०	=	देखिए
बहु०	=	बहु वचन
सं०	=	संज्ञा
सम्बन्ध अव्य०	=	सम्बन्धसूचक अव्यय
वि०	=	विशेषण
विशे०	=	विशेष

भाषा-संकेत

अँग०	=	अँगरेज़ी
अ०	—	अरबी
तु०	=	तुर्की
देश०	=	देशज
प्रा०	=	प्राकृत
फा०	=	फारसी
संस्कृ०	=	संस्कृत

पुस्तक-संकेत

अमर०	=	अमरकोश
पाइअ०	=	पाइअ सद्द महण्णवो (प्राकृत सब्द माहर्णव) ।
पा० भा०	=	पाणिनिकालीन भारतवर्ष

श्री चन्द्रकान्त

तमिल भाषा के संघ साहित्य में भक्ति के विभिन्न रूप

पदिनेण्कीलकणक्कु

संघ साहित्य के तृतीय संकलन का नाम पदिनेण्कीलकणक्कु है। इसमें अठारह नीति ग्रन्थों का संग्रह है। संकलित ग्रन्थों के नाम ये हैं :—

(१) नालडियार, (२) नान्मणिक्कडिगै (३) इनियवनार्पदु, (४) इन्ना-नार्पदु, (५) कार्नार्पदु, (६) कलवलिनार्पदु, (७) ऐंदिणैऐम्बदु, (८) तिणैमोलिऐम्बदु, (९) ऐंदिणैएलुबदु (१०) तिणैमालैनूट्रैम्बदु, (११) तिरुक्कुरल, (१२) तिरिकडुगम्, (१३) आचारक्कोवै (१४) पलमोलि, (१५) सिरुपंचमूलम्, (१६) इन्निलै, (१७) मुदुमलिक्काञ्जि और (१८) एलादि।

एट्टुत्तोगै और पत्तुप्पाट्टु में मानसिक और बाह्य जगत् की विभिन्न परिस्थितियों का विशद विश्लेषण किया गया है। पदिनेण्कीलकणक्कु में संकलित ग्रन्थों के विषय उन दोनों से कुछ अंश में भिन्न हैं। तमिल के विद्वानों ने इन ग्रन्थों को नीतिशास्त्र माना है। संघ के अन्तिम काल में कवियों का दृष्टिकोण पहले से कुछ और विस्तृत हुआ। संघ काल के कवि शृंगार और वीर रस की कविताएँ ही रचा करते थे। तमिल भाषा का संघ साहित्य शृंगार और वीर रस से पूरित है। तमिल के इस काल के साहित्य की हिन्दी के वीरगाथा काल के साहित्य से तुलना की जा सकती है। संघ काल के अन्तिम समय के कवि शृंगार और वीर से मुक्त होकर धर्म, आचार और नीति पर भी ध्यान देने लगे। वे जीवन के लक्ष्य धर्मार्थकाम—त्रिवर्ग का भी चिन्तन करने लगे। इसी काल में उत्तरापथ की भाषा, साहित्य, संस्कृति, धर्म और दर्शन का प्रचार दक्षिणापथ में होने लगा। अन्य भाषा कवियों तथा धर्म प्रचारकों के सम्पर्क और प्रभाव से दक्षिण के कवियों के काव्य-विषय, भाषा, शैली और छन्द आदि में अन्तर हो गया। इस प्रकार संघ के अन्तिम काल में काव्य-धारा नवीन दिशा में बहने लगी। अब पुराने लम्बे-लम्बे छन्दों का स्थान द्विपदियों और चतुष्पदियों को प्राप्त हुआ।

इस संकलन में १८ ग्रन्थ हैं। इनके नाम ऊपर दे दिये गये हैं। इन ग्रन्थों में छः ग्रन्थ प्रेम या शृंगार प्रधान है। तीन ग्रन्थ आयुर्वेद से सम्बन्ध रखते हैं। शेष ६ ग्रन्थ पुर अर्थात् जगबीती बातों से सम्बन्ध रखते हैं। इन सभी ग्रन्थों के अध्ययन से यह प्रकट होता है कि इन ग्रन्थों के विषय, भाषा और शैली पर संस्कृत भाषा का स्पष्ट प्रभाव है। इन ग्रन्थों के रचयिता संस्कृत भाषा के ज्ञाता अवश्य थे। आचारक्कोवै नामक रचना तो संस्कृत में लिखित किसी धर्मशास्त्र के आधार पर बनाई गई है। धार्मिक व्यक्ति के लिये जो-जो आवश्यक बातें हैं उन्हीं की इस ग्रन्थ में व्याख्या की गई है।

इस संकलन में यों तो सभी ग्रन्थ अपने-अपने विषय की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं, किन्तु नालडियार और तिरुक्कुरल तो बहुत ही प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इन दोनों ही ग्रन्थों का विषय धर्मार्थकाम की व्याख्या है। नालडियार में चार सौ चतुष्पदी पद्यों का संग्रह हैं। विभिन्न जैन मुनियों की रचनाओं का यह संकलन है। कुरल के बाद की रचना नालडियार है और कुरल से अतीव प्रभावित है। इस में कहे गये धर्म अर्थ और काम के पद्यों का तमिल जनता पर महान् प्रभाव है। भाषण कर्ता के भाषण में नालडियार तथा तिरुक्कुरल के पद्य का उदाहरण या उद्धरण देने पर वक्ता का भाषण सारगर्भित एवं महत्वपूर्ण समझा जाता है। कबीर, तुलसी और बिहारी का जो प्रभाव उत्तर भारतीय हिन्दी भाषी जनता पर है वही प्रभाव नालडियार का तमिल भाषी जनता पर है। इसमें ईश्वर की चर्चा कहीं नहीं की गई है। केवल नैतिक बातों पर विचार किया गया है। डा० जी० यु० पोप ने इस ग्रन्थ के सौन्दर्य से मुग्ध होकर इस का अनुवाद अंग्रेजी में किया है। आलोच्य विषय को दृष्टि से इन अठारह ग्रन्थों में तिरुक्कुरल ही हमारे अनुशीलन का विषय है। नालडियार के समान तिरुक्कुरल में भी धर्म, अर्थ और काम की ही व्याख्या है। किन्तु इसकी अपनी विशेषता यह है कि इसमें 'ईश्वर विषयक विचार' हैं। महाकवि तिरुवल्लुवर इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर भगवद्भक्ति, शील, तपस्या, वैराग्य, एवं त्याग पर जोर देते हैं। इनके विचार, जाति और संप्रदाय से निरपेक्षित हैं। अतः कुरल के अनुयायी शैव, वैष्णव, जैन, बौद्ध, ईसाई और मुसलमान सभी हैं।

कबीर की स्पष्टवादिता, भगवान बुद्ध की दृढ़ता और उपनिषदों की स्फूर्ति तिरुक्कुरल में पाई जाती है। तमिल देश के सभी संप्रदाय और जाति के लोग कुरल को प्रामाणिक एवं मार्गदर्शक मानते हैं। यहाँ तक जो अनीश्वरवादी और घोर नास्तिक द्राविड कलगम के अनुयायी हैं वे भी तिरुक्कुरल को ही अपना प्रामाणिक ग्रन्थ मानते हैं और जन-सामान्य में इस ग्रन्थ का प्रचार करते हैं। दो सहस्र वर्षों से तमिल प्रदेश पर कुरल का आधिपत्य रहा है। अनेकों उत्तर कालीन ग्रन्थों को इसने प्रभावित किया है। डा० जी० यू० पोप ने कुरल का अनुवाद अंग्रेजी में किया है। वी० वी० एस० अय्यर तथा वी० आर० रामचन्द्र दीक्षितर आदि भारतीय विद्वानों ने भी कुरल का अनुवाद अंग्रेजी में किया है। श्री अय्यर महोदय का अनुवाद सर्वाधिक प्रसिद्ध है। हिन्दी में इसका अनुवाद तमिल वेद के नाम से

किया गया है। कुम्बकोणम् के काशी मठ ने भी इसका अनुवाद कराया है। संस्कृत भाषा में भी इसका अनुवाद हुआ है।[1] इसके अतिरिक्त फ्रेंच, जर्मन, लेटिन, तेलुगु और मलयालय में इसका अनुवाद हो चुका है। डा० पोप के अनुवाद से कुरल का परिचय पाश्चात्य देशों को हुआ। तभी से पाश्चात्य मनीषियों ने तमिल भाषा और साहित्य के अध्ययन में रुचि दिखाई। संस्कृत भाषा की गौरव गरिमा को दूर तक पहुँचाने में महाकवि कालिदास की शकुन्तला ने जो अद्भुत कार्य किया है वैसा ही कार्य महाकवि तिरुवल्लुवर के कुरल ने किया है। तमिल भाषा के व्याकरण के अध्ययन में काल्डवेल ने महान् प्रयास किया है। तमिल साहित्य के अनेक ग्रन्थ अंग्रेजी में अनुवादित होकर विश्व के विद्वानों के समक्ष आए। तिरुक्कुरल से जैसा गौरव तमिल भाषा को प्राप्त हुआ वैसा अन्य किसी ग्रन्थ से नहीं हुआ है। आश्चर्य की बात यह है कि ऐसे महान् ग्रन्थ के रचयिता का जीवन वृत्तान्त अभी तक अन्धकार में ही है। कुरल के लेखक ने कदाचित् यह नहीं सोचा होगा कि उनका यह ग्रन्थ इतना महान् समझा जायगा। पुरातन मनीषी परोक्षप्रिय थे। उन लोगों ने अपने महत्व को समझने की चेष्टा नहीं की। वल्लुवर ने भी अपने महत्त्व को कहीं प्रकट नहीं किया। उन्होंने अपने कुल, जाति, जन्मस्थान और काल के सम्बन्ध में स्वयं कुछ नहीं कहा। कुरल के सौन्दर्य और गाम्भीर्य से प्रभावित विद्वान वल्लुवर के जीवन के सम्बन्ध में भी जानने को उत्सुक हैं। अनेक विद्वानों के अनुसंधान के पश्चात् भी यह अभी तक निर्णीत न हो सका कि वे किस जाति के थे और वे किस धर्म के अनुयायी थे। कुरल संघ कालीन साहित्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। कुरल के रचयिता वल्लुवर के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि वे कवि संघ के सदस्य तक नहीं थे। अन्तिम कवि संघ के सदस्यों ने कुरल को कवि-परिषद द्वारा प्रमाणित करने में भी असम्मति प्रकट की। यह भी कहा जाता है कि कवि-परिषद की इस पक्षपात पूर्ण नीति के कारण ही कवि-परिषद् का विघटन हुआ।

वल्लुवर के सम्बन्ध में यह किंवदन्ती प्रचलित है कि वे आदि नामक हरिजन महिला और भगवान् नामक ब्राह्मण के पुत्र थे। इस कल्पना का आधार उनके ग्रन्थ का प्रथम दोहा है[2]—जिसमें आदि और भगवन् ये दो शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इस में वल्लुवर ने भगवान् की वन्दना की है। आदि और भगवान् के शब्दों के आधार पर किसी ने वल्लुवर के माता पिता की कल्पना कर ली है। परवर्ती लोगों ने बिना सोचे समझे उस आशय को मान लिया। आजकल के विद्वान् उस पुरानी बात को नहीं मानते हैं। तिरुवल्लुवर के गम्भीर ज्ञान अनुभव और धर्मार्थकाम विषयक विचारों को देख कर कुछ लोगों ने अनुमान किया है कि वे किसी सम्पन्न वेलाल परिवार में उत्पन्न हुए और धर्म अर्थ और काम का सम्यक् अनुभव करने के पश्चात् ही इन्होंने तिरुक्कुरल लिखा है। इन

१. नीति कुसुममाला।

२. अकरमुदलेलुत्तेल्लाम् आदि, भगवन् मुदुट्रे उलगु। (१) जैसे समस्त अक्षरों का आदि अकार है वैसे ही समस्त विश्व का आरम्भ आदि पुरुष भगवान् से होता है।

विषयों के क्रियात्मक अनुभव के बिना धर्मार्थ काम की इतनी सुन्दर व्याख्या सम्भव नहीं थी। उनके कुरल के अध्ययन से यह जाना जाता है कि उनको संस्कृत के निगम-आगमों का अच्छा ज्ञान था और वे सुखद दाम्पत्य जीवन से परिचित थे। अध्ययन, श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन के बाद ही उन की यह रचना इस सुन्दर रूप में हमारे समक्ष विद्यमान है।

इस ग्रन्थ की रचना के सम्बन्ध में भी यह कहा जाता है कि एलेलशिंगन नामक विख्यात व्यापारी के पुत्र को धर्मार्थकाम की शिक्षा देने के लिये तिरुवल्लुवर ने कुरल की रचना की।[1] तत्पश्चात् इस ग्रन्थ की प्रसिद्धि तमिल के समस्त विद्वानों के कान तक पहुँची। कवि लोग वल्लुवर के गुण और कीर्ति से प्रभावित होने पर भी कुरल कवि परिषद द्वारा सम्मानित करने को तैयार नहीं थे। तत्कालीन प्रसिद्ध कवयित्री औवै ने इस ग्रन्थ की महिमा और उपयोगिता का अनुभव किया और कवि परिषद में इसे प्रतिष्ठित कराया।

ग्रन्थ का विषय :—

कुरल अत्यन्त सरल 'वेण्बा' छन्द में रचित है। समस्त ग्रन्थ दस दस श्लोकों के १३३ अध्यायों में विभाजित है। ग्रन्थ में मुख्यतया तीन विभाग हैं :—(१) अरत्तुप्पाल (धर्म विभाग), (२) पोरुलपाल (अर्थ विभाग) और (३) कामत्तुप्पाल (काम विभाग)।

इस छोटे से ग्रन्थ में डेढ़ पंक्ति वाले १३३० दोहे हैं। छोटे आकार के इस ग्रंथ में धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और कामशास्त्र का सम्पूर्ण सार भर दिया गया है। तमिल प्रदेश के सभी संप्रदायों पर कुरल के विश्व जनीन सिद्धान्त का प्रभाव पाया जाता है।

कुरल की सर्वकालीन और सार्वजनिक उपयोगिता का ज्वलन्त प्रमाण यह है कि बौद्ध, जैन, शैव, वैष्णव तथा अन्य मतावलम्बी यह प्रमाणित करने का निरन्तर प्रयास करते आ रहे हैं कि महाकवि तिरुवल्लुवर उनके धर्मावलम्बी थे और उनके सिद्धान्त का ही तिरुक्कुरल में प्रतिपादन किया गया है।

मानव जीवन के लक्ष्यभूत धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों में से प्रथम तीनों की व्याख्या कुरल में की गई है।[2] वल्लुवर ने चरम पुरुषार्थ मोक्ष की व्याख्या नहीं की। इस पर कुछ पुराने विचार के लोगों ने यह कल्पना की कि वे ब्राह्मण नहीं थे। मोक्ष की व्याख्या करने का अधिकार केवल ब्राह्मण को प्राप्त है। वल्लुवर ने अनाधिकारी होने के कारण मोक्ष पर कुछ न कहकर इहलौकिक बातों की ओर ही ध्यान दिया। वल्लुवर जन्मना ब्राह्मण थे या नहीं यह तो कोई नहीं जानता। कुरल जैसे ग्रन्थ का रचयिता अवश्य ही ब्रह्मज्ञानी कहा जा सकता है। मैं यह समझता हूँ कि वल्लुवर ने भगवान बुद्ध के धम्मपद और अन्य बौद्ध ग्रन्थों का अवश्य अध्ययन किया होगा। भगवान्

---

१. दक्षिण में रचित पञ्चतन्त्र की कहानी भी इस से मिलती है।

२. धर्मार्थकाम मोक्षाणां यस्यैकोऽपि न विद्यते।
अजागलस्तनस्येव तस्य जन्म निरर्थकम्॥ चा० नीति०।

बुद्ध के जीवन, कार्य पद्धति और विचार से भी वे अवश्य परिचित हुए होंगे। भगवान् बुद्ध १० विवादास्पद प्रश्नों के पूछने पर मौन रहा करते थे। उनके मौन होने का अभिप्राय यह समझा जाता था कि उन प्रश्नों का दैनिक जीवन से साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। आत्मा और अनात्मा सम्बन्धी गूढ़ बातों में पड़कर समय और शक्ति के व्यय करने की अपेक्षा जीवन की अत्यावश्यक बातों पर ध्यान देना और शील की रक्षा करना ज्यादा लाभदायक हो सकता है। बुद्ध के इस विचार से प्रभावित वल्लुवर ने भी मोक्ष के सम्बन्ध में यही सोचा होगा। मोक्ष विषय के प्रतिपादक अनेक ग्रन्थों के होने पर भी अध्ययनशील जिज्ञासुओं के लिये मोक्ष अब भी अस्पष्ट ही है। इसी कारण से वल्लुवर ने प्रत्येक व्यक्ति के दैनिक जीवन से सम्बन्धित त्रिवर्ग की ही व्याख्या की है। उनके ग्रन्थ के अनुशीलन से यह स्पष्ट जाना जाता है कि उनका पुनर्जन्म, और कर्म-सिद्धान्त में पूर्ण विश्वास था। उनके धर्म विभाग के पढ़ने से उनकी ईश्वर भक्ति का सम्यक् ज्ञान होता है। वे आडम्बरवादी नहीं थे। उन्होंने गम्भीर बातों का भी सरलता से संक्षेप में प्रतिपादन किया है।

वल्लुवर का कुरल ईश्वर भक्ति से प्रारम्भ होता है। ईश्वर के स्वरूप को ठीक न जानने तथा भगवद्भजन में प्रवृत्त न होने के कारण ही मनुष्य राग द्वेष और माया मोह में फंस कर पंकमग्न गज के समान व्यथित होता है। अतः अपने ग्रन्थ का आरम्भ वल्लुवर ने भगवद्भजन से प्रारम्भ किया है। ग्रन्थकार का लक्ष्य समस्त ग्रन्थ में भगवच्चर्चा करना नहीं है। किन्तु वे स्पष्ट कहते हैं कि समस्त ज्ञान का मुख्य लक्ष्य ईश्वर के स्वरूप का सम्यक् ज्ञान और भक्ति है। वल्लुवर की भक्ति देश, काल, जाति और सम्प्रदाय से परे है। कई सहस्र वर्षों से उन के कुरल का सतत अध्ययन और अनुशीलन होता आ रहा है। आज तक यह निर्णय न हो सका कि वल्लुवर चतुर्भुज विष्णु, पञ्चमुख सदाशिव और षड्मुख कार्तिकेय—इन में से किस के अनुयायी थे। उनकी भक्ति और भगवत्स्वरूप की व्याख्या विश्वजनीन है। मोक्ष का उल्लेख न करने पर भी मोक्ष-सिद्धान्तों का कथन ग्रन्थ के प्रथम भाग—धर्म विभाग में पाया जाता है। प्रथम विभाग में वल्लुवर ने जिन विषयों की चर्चा की हैं वे ये हैं :—'

ईश्वर स्तुति, वर्षा की महिमा, वैराग्य, धर्म का श्रेय, गृहस्थ जीवन, आदर्श पत्नी, आदर्श सन्तति, स्नेह, आतिथ्य, मधुरभाषण, कृतज्ञता, न्यायनिष्ठा, आत्मसंयम, सदाचार, एक पत्नी व्रत, क्षमा, अमात्सर्य, निर्लोभता, अपैशुन्यता, तुच्छ भाषण का त्याग, बुरे कर्मों का भय, परोपकार, दानशीलता, यश, दया, निरामिष भोजन, तपश्चर्या, मायाचार, अस्तेय, सत्य अक्रोध, किसी को कष्ट न देना, अहिंसा, अनित्यता, त्याग, तत्त्वज्ञान, तृष्णादमन, और भाग्य। उपरिलिखित प्रत्येक विषय पर दस दस दोहों में अपने रमणीय एवं अनुभवी विचारों की अभिव्यक्ति लेखक ने की है। इसी प्रकार अर्थ-विभाग और काम विभाग में अनेक उपशीर्षकों में ग्रन्थ को विभाजित कर दस-दस श्लोकों या दोहों में लेखक ने अपने विचारों को व्यक्त किया है। आलोच्य विषय की दृष्टि

से ग्रन्थ के प्रथम दस दोहे अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। अतः उसका अनुवाद यहाँ दिया जाता है।

(१) 'अ' वर्ण समग्र शब्द लोक का मूल कारण है। उसी प्रकार आदि भगवान् इस विश्व का आदि कारण है।

(२) यदि तुम उस सर्वज्ञ परमेश्वर के चरणों की आराधना नहीं करते हो, तो तुम्हारा यह सारा ज्ञान किस काम का ?

(३) जो मनुष्य, हृदय कमल में रहने वाले परमेश्वर के पवित्र चरणों की शरण लेते हैं; वे स्वर्ग में अनन्तकाल तक आनन्द प्राप्त करते हैं।

(५) जो मनुष्य परमात्मा के सदा गुण-गान करते हैं, उन्हें अपने चित्त की कलुषता से उत्पन्न शुभ और अशुभ कर्मों का फल नहीं भोगना पड़ता।

(४) जो मनुष्य, राग-द्वेष रहित परमात्मा के चरणों में लवलीन रहते हैं, वे सब प्रकार के दुखों से मुक्त हो जाते हैं।

(६) वे मनुष्य, जिन्होंने पांच इन्द्रियों को जीत लिया है और सत्य मार्ग का अनुसरण करते रहते हैं, सदा दीर्घ जीवी होंगे।

(७) केवल वे ही मनुष्य, जो एक परमात्मा के चरणों की शरण लेते हैं, सांसारिक चिन्ताओं से मुक्त हो सकते हैं, अन्य नहीं।

(८) केवल वे ही मनुष्य, जो धर्म सिन्धु परमेश्वर के चरणों की आराधना में तल्लीन रहते हैं, इस संसार समुद्र को पार कर सकते हैं, दूसरे नहीं।

(९) जो मनुष्य, अष्टगुणों से शोभायमान परमात्मा के चरणों में अपना सिर नहीं झुकाता और न उनकी पूजा करता है, वह निश्चेतन इन्द्रिय के समान है।

(१०) वे ही मनुष्य इस जन्म-मरण के समुद्र को पार कर सकते हैं जो भगवान के श्री चरणों की शरण आ जाते हैं; अन्य उसको पार नहीं कर सकते हैं।[१]

तिरुक्कुरल के प्रथम परिच्छेद में ईश्वर का जो वर्णन किया गया है और जिस रूप की भक्ति का प्रतिपादन किया गया है उस में श्रद्धा और विश्वास ही पाया जाता है। कुरल के अनुवादक डा० जी० यू० पोप ने भक्ति का विश्लेषण करते हुए भक्ति के समानार्थक ग्रीक भाषा के पद का अभिप्राय Faith and love अर्थात् विश्वास और प्रेम बताया है। गोस्वामी तुलसीदास ने ईश्वर की वन्दना करते हुए शिव और शक्ति को विश्वास और श्रद्धा कहा है। उनके इस कथन का यही आशय प्रतीत होता है कि भगवद्-भक्ति में पूर्ण श्रद्धा और विश्वास की आवश्यकता है। तिरुक्कुरल के सांगोपांग अध्ययन करने से भी यही प्रतीत होता है कि स्वयं वल्लुवर भी श्रद्धा और विश्वास को ही भक्ति का मूल तत्व मानते हैं। उनका ईश्वर सर्वस्वीकृत विश्वातीत एवं अन्तर्यामी है। इसीलिये तमिल प्रदेश के सभी संप्रदाय के अनुयायी कुरल के पक्षपाती और अनु-

१. अनुवादित और प्रकाशित—काशीमठ, कुम्बकोणम् से लिया हुआ है।

यायी हैं। इस ग्रन्थ के विश्वजनीन सिद्धान्त का ही यह प्रभाव है कि जैन, बौद्ध, शैव वैष्णव और ईसाई धर्मावलम्बी सदा यह सिद्ध करने के प्रयास में रहते हैं कि कुरल के लेखक उनके मतानुयायी हैं और उन्हीं के सिद्धान्तों का प्रतिपादन उन्होंने इस ग्रन्थ में किया है।

संघ साहित्य में ब्रह्मा आदि का उल्लेख

शिव, विष्णु और कार्त्तिकेय की पूजा के साथ-साथ पुरातन तमिल जनता ब्रह्मा पर भी विश्वास करती थी। पुरनानूरु (१९४) के पद्य में यह प्रश्न किया गया है कि ब्रह्मा एक घर में सुख और दूसरे घर में दुःख क्यों उत्पन्न करता है। ब्रह्मा के मन्दिर भी होते थे। कुम्बकोणम् के निकट नालूर नामक स्थान पर ब्रह्मा का मन्दिर इस समय भी है। ब्रह्मा विष्णु और महेश के साथ भूतों पर भी पुरातन जनता विश्वास करती थी। शिलप्पदिकारम् तथा मणिमेकलै में चतुक्कब्भूतम् की चर्चा है। इस भूत का मन्दिर प्रायः चौक (चतुष्पथ) में होता था शिलप्पदिकारम् के इन्द्रोत्सव (१२८-१३४) के प्रकरण में इस भूत का वर्णन है। यह भूत महान् प्रभावशाली तथा कुकर्म करने वालों को दण्ड देने वाला कहा गया है। तपस्वी और सन्यासी का वेष धारण कर कुमार्ग पर प्रवृत्त लोग, पातिव्रत्य से भ्रष्टनारी, राजद्रोही मंत्री परदारगामी, मिथ्या साक्षी देने वाले और परनिन्दकों को चतुक्कब्भूत मार कर खा जाता है। इस भूत के सम्बन्ध में मणिमेकला में एक कहानी इस प्रकार है:—एक बार एक पतिव्रता नारी काबेरी नदी में स्नान कर अपने घर जा रही थी। मार्ग में एक राजपुत्र उसे देख कर उसकी ओर आकृष्ट हुआ और उस से प्रेम की याचना करने लगा। राजपुत्र की कामुकता से खिन्न वह पतिव्रता नारी चतुक्कब्भूत के पास जाकर कहने लगी कि "मैंने आज तक पातिव्रत्य के प्रतिकूल आचरण नहीं किया। तो भी राजपुत्र मुझ पर आकृष्ट हुआ। इससे मैं अपने चरित्र में सन्देह करती हूँ। अतः हे भूत तुम मेरा प्राणान्त कर दो।" पतिव्रता की प्रार्थना पर भूत ने तिरुक्कुरल के प्रसिद्ध दोहा—"प्रातः शय्या से उठकर जो स्त्री अपने पति की पूजा करती है और अन्य देवताओं की पूजा नहीं करती, निश्चय ही जल से भरे हुए बादल भी उसकी आज्ञानुसार ही बरसेंगे।" (५५) का उपदेश दिया और कहने लगा कि पतिदेव की अनुमति के बिना मन्दिर आदि जाने से तुम राजकुमार आदि बाह्य व्यक्तियों के मन में गृहीत हुई। दूसरों की कामुकता को रोकने का प्रभाव तुम्हारे पातिव्रत्य में नहीं है। राजकुमार ने कसूर किया है। वह समय पर दण्डित होगा। तुम अपने घर जाओ।"

संघकाल में परशुराम की भी पूजा होती थी। पुरनानूरु एक पद्य में (५६-१-१०) शंकर, बलराम, कृष्ण और कार्त्तिकेय का एक साथ स्तवन किया गया पाया जाता है। इसी ग्रन्थ में भगवान् रामचन्द्र जी का भी वर्णन है। लंकेश्वर रावण से लंका को छीन कर शरणागत विभीषण को उदारता से दिये जाने की राम की कहानी का यहां रोचक ढंग से उल्लेख किया गया है। पुराने समय में काल और काम मन्दिरों के होने का भी उल्लेख मिला है। आण्डरल ने विष्णु को ही वर रूप में पाने के लिये मन्मथ

की स्तुति की है। अनूढा कन्याएँ अभिलषित वर पाने के लिये बसन्त काल में काम की अर्चना करती थीं। जीवक चिन्तामणि (२०५७) काव्य में सुरमंजरी नामक कन्या की कामपूजा विषयक कहानी से यह जाना जाता है कि तमिल प्रदेश में काम पूजा व्यवहार में थी। शिलप्पदिकारम (९: ९—१४) में कल्पतरु, ऐरावत, बलराम, सूर्य, कैलाश, स्कन्दस्वामी, इन्द्र भगवान् अर्हत और चन्द्र आदि के मन्दिर होने का उल्लेख है। बड़े-बड़े नगरों में नगर रक्षक देवता भी होते थे। मदुरा में मदुरापति और काविरिप्पूं पट्टिणम् में चम्पापति नगर रक्षक देवता थे। पतिव्रता नारियों के नाम पर भी मन्दिर बनवाकर लोग पूजा करते थे। शिलप्पदिकारम् काव्य की नायिका 'कणाकी' पातिव्रत्य के लिये प्रख्यात है। उसके नाम से भी कण्णनूर में कण्णकी मन्दिर है। कण्णकी का अपर नाम मंगलादेवी है। इसी मंगलादेवी के नाम से मंगलूर नगर बसा है। युद्ध में हत वीरों की शिला स्थापित कर पूजा करने की भी प्रथा पुरातन तमिल जाति में थी।[1]

इस प्रकार तमिल संघ साहित्य के अनुशीलन से यही जाना जाता है कि पुरातन तमिल लोग ईश्वर भक्ति में विभिन्न रुचि वाले थे और वे अनेक देवी और देवताओं की पूजा किया करते थे। शिव, विष्णु काली और शिवकुमार उन के विशिष्ट देवता थे। अनेक रूपों में एक ही परमतत्त्व की उपासना करते हुए धर्म और ईश्वर के नाम पर पुरातन लोगों के कलह और संघर्ष का उल्लेख तमिल के प्राचीन साहित्य में नहीं पाया जाता। संघोत्तर काल में वैदिक, बौद्ध, जैन और आजीवक मतों का तीव्र प्रचार तमिल प्रदेश में होने लगा।

---

१. विस्तृत विवरण के लिये दाक्षिणात्य कला निधि सामिनादय्यर का ग्रन्थ संगत्तमिल और पिरकालत्तमिल देखिये।

श्री लक्ष्मीशंकर व्यास

चौलुक्यकालीन साहित्य-साधना और उसका स्वरूप

प्राचीन भारतीय इतिहास में जितने साहित्यिक एवं सांस्कृतिक पुनरुत्थान हुए, उनमें चौलुक्यकालीन (६६१ ई० —१२४२ ई०) साहित्य-साधना और सांस्कृतिक पुनर्जागरण का अपना विशेष एवं विशिष्ट महत्त्व है। पाटलीपुत्र, उज्जयिनी, कान्यकुब्ज जैसी उच्च सांस्कृतिक परम्परा के केन्द्र सौराष्ट्र के वल्लभीपुर, धवलका तथा अनहिलवाड़-पाटन में भी थे। दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से तेरहवीं शती के पूर्वार्ध तक, चौलुक्य शासन काल में गुजरात में महान् साहित्यिक अनुष्ठान हुआ, जिसके फलस्वरूप राष्ट्र भारती का भण्डार अत्यधिक समृद्ध एवं अलंकृत हुआ। तीन सौ वर्षों की इस अखण्ड साहित्य-साधना में, दो युग निर्माता साहित्य-स्रष्टा हुए और इनकी साहित्यिक मण्डली में शताधिक साधकों ने साहित्य के सभी अंगों की रचनाएँ कीं। भारत के इतिहास में ऐसे राजवंश इने-गिने ही होंगे, जिनके उत्तराधिकारियों ने अपने पूर्वपुरुषों के साहित्य एवं संस्कृति-प्रेम को इस प्रकार एकनिष्ठ तथा क्रमबद्ध बनाये रखा हो।

चौलुक्यों के पूर्व वल्लभी के मैत्रकों के शासनकाल में सौराष्ट्र का वल्लभीपुर ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन धर्म का महान् केन्द्र था। चीनी यात्री ह्वेन-च्यांग ने इस नगरी के वैभव का जैसा वर्णन लिखा है, उससे उक्त बात स्पष्ट हो जाती है। ह्वेन-च्यांग लिखता है कि 'इस सांस्कृतिक नगरी में सैकड़ों संघाराम थे जिनमें लगभग छः हजार बौद्ध भिक्षु हिनयाना शाखा का अध्ययन मनन करते थे।'[1] ह्वेन-च्यांग के सम सामयिक इत्सिंह ने भी इस तथ्य की पुष्टि, यह लिखते हुए की है कि 'दक्षिण बिहार में नालन्दा तथा सौराष्ट्र में वल्लभी, भारत में ऐसे दो स्थल हैं, जिनकी तुलना चीन के अत्यन्त सुप्रसिद्ध विद्यापीठों से की जा सकती है और जहाँ बौद्ध-दर्शन के अध्ययन निमित्त दो-तीन वर्ष के लिए जिज्ञासु विद्यार्थी-समूह आते थे।'[2]

पांचवीं-छठी शताब्दी में वल्लभीपुर के बाद सातवीं शताब्दी में गुर्जरों की प्रथम राजधानी श्रीमाल भी ब्राह्मण तथा जैन विद्या का महान् केन्द्र रहा। जब यह स्थान राज-

१. बील : बुद्धिस्ट रेकर्ड्स आफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड, बी० के० ११, पृ-२०८

२. स्मिथ : अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ—३१४

धानी न रहा, तो यहाँ के प्रतिभा-सम्पन्न विद्वानों ने गुजरात के अन्यान्य सांस्कृतिक केन्द्रों में जाकर साहित्य निर्माण तथा संस्कृति के उन्नयन का कार्य सम्पन्न किया। श्रीमाल के पतन के पूर्व ही अनहिलवाड़ पाटन की स्थापना, सरस्वती नदी के तट पर चावड़ा जाति के प्रधान वनराज ने ७४६ ईस्वी में की। चौलुक्य वंश के प्रतिष्ठाता मूलराज ने ९४२ ईस्वी में, यहीं चौलुक्य राज्य की स्थापना की। मूलराज के शासनकाल से ही, गुजरात सर्वप्रथम प्रान्त के अर्थ में गृहीत होने लगा। गुर्जर-साम्राज्य की स्थापना के बाद अनहिलवाड़ पाटन ब्राह्मण, जैन विद्वानों तथा कवियों की महान साहित्य-साधना का देश-विश्रुत केन्द्र बन गया। तीन सौ वर्षों के अखण्ड साहित्य-निर्माण यज्ञ में युग निर्माता आचार्य हेमचन्द्र तथा महामात्य वस्तुपाल ने स्वयं तथा उनकी साहित्य मण्डली ने महाकाव्य, नाटक, व्याकरण, छन्द, न्याय काव्यशास्त्र, ज्योतिष, स्तोत्र, प्रशस्ति, प्रबन्ध, कविता, जैन ग्रंथों की टीकाएँ, अपभ्रंश रास, कोश, इतिहास आदि ग्रन्थों का प्रचुर परिमाण में प्रणयन किया।

साहित्यिक-सांस्कृतिक : परम्परा और पृष्ठभूमि

चौलुक्यकालीन साहित्य-निर्माण की तीन शताब्दियों की परम्परा तथा पृष्ठभूमि, पर विचार किया जाय तो पूर्ववर्ती साढ़े तीन सौ वर्ष और परवर्ती साढ़े तीन शताब्दियों के सांस्कृतिक पुनरुत्थान एवं उनके केन्द्रों की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक है। इस प्रकार पूरे सहस्र वर्ष की साहित्य-साधना के अन्योन्याश्रित सम्बन्धों एवं विकास-दर्शन, द्वारा ही चौलुक्यकालीन साहित्य-निर्माण का महत्त्व एवं मूल्यमापन सम्भव है। इस युग में गुजरात में जो नवीन साहित्यिक चेतना तथा जागृति के दर्शन होते हैं, उसमें एक ओर तो चौलुक्य नरेशों का साहित्य-प्रेम और उनकी संरक्षण वृत्ति है और दूसरी ओर है इस काल के आचार्यों, विद्वानों तथा जैन साधकों का एकान्त मनन एवं एकनिष्ठ साधना। फलस्वरूप संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा प्राचीन गुजराती भाषा में धार्मिक एवं साहित्यिक रचनाओं की बाढ़-सी आ गई। इस युग में जितना प्रभूत साहित्य-निर्माण हुआ, उसका अधिकांश अब भी गुजरात के जैन भण्डारों में भरा पड़ा और अप्रकाशित है। अनेक वर्ष पूर्व पाटन के भण्डारों में रखी ताड़पत्रीय ग्रंथों की सूची प्रकाशित हुई है।[1] उस काल की अनेक बहुमूल्य कृतियों का प्रकाशन इधर हुआ है, पर वह सम्पूर्ण का एक अंशमात्र ही है। पाटन, बड़ौदा, अहमदाबाद, खम्भात आदि के प्रख्यात जैन भण्डारों में अभी प्रचुर साहित्य पड़ा है, जहां की सामग्री का अवलोकन-आलोड़न भी नहीं हुआ है। विण्टरनित्स ने अपनी पुस्तक में इस काल के साहित्य की चर्चा और उनके प्रकार पर प्रकाश डाला है।[2] गुजरात के प्रख्यात भारतीय साहित्यकार श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने भी इस काल की साहित्यिक सामग्री का विश्लेषण एवं विवेचन किया है।[3]

---

१. डिसक्रिपटिव कैटलाग आव मैन्यूस्क्रिप्ट इन जैन भण्डार्स एट पाटन : जी० ओ० एस० ७५, बड़ौदा, १९३७।

२. विण्टरनित्स : हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर; खण्ड २, पृ०—५०३-१४

३. के० एम० मुंशी: गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर, पृष्ठ ३६-४७

इस युग के महान् साहित्य सर्जकों के व्यक्तित्व एवं उनके कृतित्व पर प्रकाश डालने के पूर्व, गुजरात के प्रमुख सांस्कृतिक केन्द्रों तथा विद्यापीठों की संक्षेप में यहां चर्चा अप्रसंगिक न होगी। वस्तुतः अनहिलवाड़ के सांस्कृतिक पुनरुत्थान में, गुजरात के इन साहित्यिक तीर्थों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। छठी शताब्दी से तेहरवीं शती तक के सुदीर्घ काल में गुजरात में चार देश-विदेश प्रसिद्ध सांस्कृतिक केन्द्र रहे। इनके नाम क्रमशः हैं—(१) सौराष्ट्र का वल्लभी या वल्लभीपुर (२) गुर्जरों की प्रथम राजधानी श्रीमाल या भिन्नमाल (३) चौलुक्यों की राजधानी अनहिलवाड़ पाटन तथा (४) तेरहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में धवलकूट (अहमदाबाद)। इनमें प्रथम छठी तथा सातवीं शताब्दी में, द्वितीय सातवीं शताब्दी में, तृतीय आठवीं से लेकर बारहवीं शताब्दी और चौथी तेरहवीं शताब्दी में सांस्कृतिक उत्थान के लिये प्रख्यात है। इनकी महत्ता इसी से विदित होती है कि मध्यकालीन संस्कृत साहित्य के निर्माण में इन्हीं केन्द्रों के विद्वानों ने अपना महान् योगदान दिया है। यही नहीं, इन विद्यापीठों में समस्त शास्त्रों तथा विद्याओं का अध्ययन-अध्यापन होता था और दूर-दूर से अध्ययनार्थी यहां आकर निवास करते थे। इन चारों सांस्कृतिक तीर्थों में सैकड़ों संघाराम, सहस्रों ब्रह्मशालाएँ, सहस्रों मठ तथा विहार और प्रख्यात पुस्तकालय स्थापित थे।

सांस्कृतिक केन्द्रों की साहित्य को देन

गुजरात के इन चारों सांस्कृतिक केन्द्रों की साहित्यिक देन, भारतीय साहित्य में अमर तथा उसकी स्थाई सम्पत्ति है। इस बात का उल्लेख पहले किया जा चुका है कि वल्लभीपुर, ब्राह्मण तथा जैन संस्कृति का सुप्रसिद्ध केन्द्र रहा है। कथासरित्सागर की ३२वीं तरंग में वह प्रकरण मिलता है, जिसमें विष्णुदत्त के अन्तरवेदी से विद्याध्ययन करने वल्लभी जाने का उल्लेख है। ज्ञातव्य है कि ग्यारहवीं शताब्दी में रचित उक्त ग्रंथ में जिस घटना की चर्चा की गई है, वह सुदूर अतीतकाल की है और ईसा की प्रथम शताब्दी में विद्यमान गुनाढ्य की (अब लुप्त) वृहत्कथा का एक प्रसंग है। संस्कृत साहित्य के सर्व-प्रथम व्याकरण 'भट्टीकाव्य' अथवा रावणवध की रचना वल्लभी में ही हुई। विद्वानों का मत है कि इस रचना को आचार्य हेमचन्द्र के द्वयाश्रय महाकाव्य की पूर्ववर्ती कृति माना जा सकता है, जिससे उन्हें कालान्तर में व्याकरण रचना की प्रेरणा प्राप्त हुई थी। वल्लभी के उत्कीर्ण लेखों में संस्कृत के गद्यकाव्य की शैली का प्रारम्भिक स्वरूप देखने को मिलता है। वल्लभी, जैनधर्म का कितना महत्त्वपूर्ण केन्द्र था उसका आभास इसी बात से हो जाता है कि, महावीर के निर्माण के बाद नौवीं शताब्दी में आर्य नागार्जुन ने यहाँ अखिल भारतवर्षीय जैन परिषद आयोजित की थी। इसी सांस्कृतिक नगरी में मल्लवादिन नामक महान् विद्वान् हुए, जिनका प्रभाव गुजरात के साहित्यिक पुनरुत्थान में दृष्टिगत होता है। आचार्य मल्लवादिन, जैन तर्कशास्त्र द्वादश न्यायचक्र के महना प्रणेता हो गए हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने सिद्धहेम व्याकरण में, प्रभाचन्द्र सूरि ने अपने प्रभावक चरित्र में, मेरुतुंग की प्रबन्ध चिन्तामणि में, राजशेखर के प्रबन्धकोश तथा अन्य अनेक ग्रन्थों में आचार्य

मल्लवादिन का अत्यन्त श्रद्धापूर्वक उल्लेख करते हुए उन्हें अपने युग के प्रकाण्ड पण्डित के रूप में स्मरण किया गया है। अरबों के आक्रमण (७८९ ईस्वी) से वल्लभी नगरी का सांस्कृतिक वैभव नष्ट-भ्रष्ट हो गया। प्रसिद्ध इतिहासकार विसेण्ट स्मिथ ने लिखा है कि वल्लभी के बाद, पश्चिमी भारत का प्रमुख सांस्कृतिक केन्द्र अनहिलवाड़ हो गया, जहाँ पन्द्रहवीं शताब्दी तक वैभव बना रहा।[१]

वल्लभी के पश्चात् क्रम आता है, गुर्जरों की प्रथम राजधानी श्रीमाल या भिन्नमाल का। 'श्रीमाल पुराण' से इस नगरी के प्राचीन वैभव और विद्या-केन्द्रों का परिचय प्राप्त होता है। यह ब्राह्मण, जैन तथा बौद्ध विद्या का महान् केन्द्र था। यहाँ एक सहस्र ब्रह्म-शालाएं तथा चार सहस्र मठ थे, जिनमें विभिन्न विद्याओं की शिक्षा प्रदान की जाती थी।[२] ह्वेनसांग ने इसकी भौगोलिक अवस्थिति का उल्लेख करते हुए यहाँ के उत्कीर्ण प्राचीन लेखों की भी चर्चा की है। संस्कृत साहित्य के प्रख्यात् साहित्य-निर्माता महाकवि माघ के प्रपिता श्रीपाल नरेश के महामन्त्री थे। माघ के शिशुपाल वध में राजा वर्मालाट का उल्लेख आया है। संस्कृत के महान् कथाकार सिद्धर्षि, जैन दार्शनिक हरिभद्र, ज्योतिषशास्त्र के प्रणेता ब्रह्मगुप्त और महान् साहित्य प्रेमी महामान्य वस्तुपाल श्रीमाल के ही थे। जब श्रीमाल का वैभव ११४७ ईस्वी में समाप्त हो गया तो भारी संख्या में विद्वान, ब्राह्मण, कलाकार आदि यहाँ से अनहिलवाड़ पाटन चले गए और गुजरात के इतिहास में गौरवपूर्ण योगदान दिया। अनहिलवाड़ पाटन का सांस्कृतिक वैभव, दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से प्रारम्भ होता है, जब चौलुक्य वंश के संस्थापक मूलराज ने उत्तरापथ के विद्वान् उदीच्य अथवा औदीच्य ब्राह्मणों को आमन्त्रित कर राज्य में बसाया। यह सांस्कृतिक विकास सिद्धराज जयसिंह तथा उसके उत्तराधिकारी कुमारपाल के शासनकाल में अपनी चरम-सीमा पर पहुंच गया, जिसे हम चौलुक्यशासन का स्वर्णयुग कह सकते हैं। इस युग में साहित्य का सर्वतोमुखी निर्माण और विकास हुआ। भीमदेव प्रथम के शासनकाल में महमूद गजनी के आक्रमण के बावजूद यह अखण्ड-साधना की भांति चलता रहा। आचार्य हेमचन्द्र, उनके सम-सामयिक साहित्यकारों तथा उनकी साहित्य मण्डली ने, राज्य के संरक्षण तथा अपनी एकान्त साधना से महान् साहित्य का सर्जन किया। चौथा सांस्कृतिक केन्द्र जो चौलुक्य-राजधानी के साथ ही विकसित हो रहा था, धवलक्का में था, जहाँ चौलुक्यों की एक शाखा वाघेला का शासन था। चौलुक्यों से इनकी मैत्री और सहयोग घनिष्ठ था और ये अनेक संकटकाल में चौलुक्यों के परम सहायक सिद्ध हुए। इसी धवलक्का के वीरधवल ने, चौलुक्य भीमदेव द्वितीय से वस्तुपाल की सेवाएँ, अभ्यर्थना द्वारा प्राप्त की थीं। वीरधवल और वस्तुपाल के संस्कृति एवं साहित्य प्रेम तथा संरक्षण की बात देश में प्रसिद्ध हो गई थी। नैषधकार श्रीहर्ष के वंशधर हरिहर, गौड़देश से धवलक्का, उसके नरेश तथा उसके महामात्य की, इसी सुकीर्ति को श्रवण कर यहाँ आए और प्रथम बार गुजरात में नैषध

१. स्मिथ : अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ—३१४–१५

२. श्रीमाल पुराण : अध्याय १२, श्लोक २२।

महाकाव्य का प्रचार किया तथा स्वयं अत्यन्त उच्चकोटि की साहित्य-रचना की। वीरधवल के पुत्र और उत्तराधिकारी वीसलदेव के समय भी धवलक्का में साहित्यिक सांस्कृतिक अभ्युत्थान का क्रम जारी रहा। वीरधवल तथा महामात्य वस्तुपाल के संरक्षण में धवलक्का में जैसी साहित्यिक चेतना जागृत हुई और जैसा बहुमुखी विकास हुआ, वह भारत के सांस्कृतिक इतिहास में चिरस्मरणीय है। देश के कोने-कोने से महान् साहित्यकार, गुजरात के इन सांस्कृतिक केन्द्रों में आते थे और अपनी प्रतिभा तथा कला का परिचय देकर पुरस्कृत और प्रसिद्ध होते थे। नैषधकार श्री हर्ष के वंशज हरिहर के अतिरिक्त, सिद्धराज के पिता कर्ण के शासनकाल में कश्मीरी कवि विल्हण सुदूर कश्मीर से अनहिलवाड़ा आए थे और यहाँ रह कर उन्होंने कर्णसुन्दरी नाटिका की रचना की थी। गुजरात की इस गौरवपूर्ण साहित्यिक सांस्कृतिक परम्परा ने, मध्यकालीन भारतीय लोक साहित्य को अत्यधिक प्रभावित किया है और दिया है उसके पुनरुत्थान में अभूतपूर्व योगदान !

आचार्य हेमचन्द्र और उनका युग

गुर्जर साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् अनहिलवाड़ पाटन केवल गुजरात की राजधानी ही नहीं बना रहा अपितु सम्पूर्ण राष्ट्र का महान् सांस्कृतिक केन्द्र बन गया। चौलुक्य नरेशों ने सारस्वत मण्डल में अपने संरक्षण और प्रोत्साहन में सरस्वती की जैसी साधना-आराधना की वह अभूतपूर्व है। यह क्रम, यद्यपि चौलुक्य वंश के संस्थापक मूलराज के समय से ही चल पड़ा था पर सिद्धराज जयसिंह और उसके उत्तराधिकारी कुमारपाल के शासन काल में यह अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया। इस मध्यकालीन साहित्यिक सांस्कृतिक पुनरुत्थान को दो प्रमुख युगों में विभाजित किया जा सकता है। एक का नामकरण, आचार्य हेमचन्द्र युग और दूसरे का महामात्य वस्तुपाल युग, इस साहित्यिक जागरण की अभिव्यक्ति के निमित्त उपयुक्त होगा। आचार्य हेमचन्द्र के पूर्ववर्ती साहित्य-साधकों में ग्यारहवीं शती में हुए श्री शान्ति सूरि तथा श्री नेमिचन्द्र के नाम विशेष रूप से उल्लेख्य हैं। इन दोनों विद्वानों ने उत्तराध्ययन सूत्र पर जो टीकाएं लिखी हैं, वे अध्येताओं के लिये अत्यन्त उपादेय हैं। सन् १०६४ ई० में श्री अभयदेव सूरि ने जैन दर्शन के नौ अंगों पर विद्वत्तापूर्ण टीकाएं लिखी हैं, जिनका संशोधित स्वरूप श्री द्रोणाचार्य ने प्रस्तुत किया। ग्यारहवीं शती के पूर्वार्ध श्री जिनेश्वर तथा श्री बुद्धिसागर ने धार्मिक एवं विविध विषयों पर जो साहित्य-रचना की, उसका भी विशेष उल्लेख आवश्यक है।[1]

जिस युग में आचार्य हेमचन्द्र का उदय हो रहा था, उस समय गुजरात और मालवा में साहित्यिक प्रतिद्वन्दिता चलती थी। इस स्वस्थ परम्परा ने वास्तव में साहित्य के विकास में बहुत सहायता पहुँचाई। एक प्रदेश के विद्वान, दूसरे राज्य में जाकर अपने प्रदेश के गौरववर्द्धन के निमित्त शास्त्रार्थ किया करते थे। अनहिलवाड़ पाटन के शक्तिशाली नरेश, इस प्रतियोगिता में अपने राज्य का पलड़ा भारी रखना

१. एम० डी० देसाई : 'जैन साहित्य नो इतिहास' में विस्तृत विवरण देखिये।

चाहते थे। सिद्धराज जयसिंह गुजरात के सर्वप्रमुख नरेशों में अग्रगण्य थे। उसकी महत्त्वाकांक्षा केवल राज्यविस्तार द्वारा गुजरात साम्राज्य को शक्तिशाली बनाने की ही न थी। उज्जयिनी के विक्रमादित्य के समान ही सर्वाङ्गीण प्रगति उसे इष्ट थी। सारे देश के विद्वान् उसकी राज्य सभा में आते थे। विद्वानों के शास्त्रार्थ तथा विचार विमर्श की सभाओं की अध्यक्षता स्वयं सिद्धराज किया करते थे। दिगम्बर कुमुदचन्द और श्वेताम्बर वादी देवसूरि का अत्यन्त प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण विवाद, सिद्धराज की ही राज्य सभा में हुआ था। यही कारण है कि गुजरात के लोक साहित्य तथा नाट्य में सिद्धराज जयसिंह (सन् १०९४-११४३ ई०) विक्रम तथा भोज की भांति सुप्रसिद्ध हैं। गुजरात के इसी गौरवशाली सिद्धराज जयसिंह की राज्यसभा के सबसे बड़े विद्वान् और युगनिर्माता साहित्य-साधक आचार्य हेमचन्द्र थे। न केवल सिद्धराज के समय, अपितु उसके उत्तराधिकारी तथा सर्वप्रसिद्ध चौलुक्यराज कुमारपाल के समय भी, आचार्य हेमचन्द्र अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा तथा असाधारण पाण्डित्य से, बहुमुखी साहित्य-अनुष्ठान के अधिष्ठाता बने रहे। हेमाचार्य के समसामयिक विद्वानों तथा उनकी विद्वान शिष्यमण्डली ने जितना प्रभूत साहित्य-निर्माण किया, वह आज भी विस्मय-विमुग्ध करने वाला है और भारतीय साहित्य में उनकी महत्त्वपूर्ण देन है।

असाधारण प्रतिभा और रचना शक्ति

समग्र और सर्वयुगीन साहित्य साधना को दृष्टि में रखकर विचार किया जाय तो आचार्य हेमचन्द्र और उनके साहित्य का महत्त्व विशेष उल्लेखनीय है, इसमें सन्देह नहीं। मध्यकालीन भारत के वे महान् कवि तथा प्रकाण्ड पण्डित थे। बारहवीं तथा तेरहवीं शताब्दी में जैन साहित्य के अभूतपूर्व निर्माण तथा अन्यान्य साहित्य-प्रवृत्तियों का प्रवर्तन उन्हीं के नेतृत्व में हुआ। जैसा पहिले लिखा जा चुका है, सिद्धराज जयसिंह को उज्जयिनी की साहित्यिक गौरव-परम्पराओं से होड़ लेने की कामना रहती थी। इसी भावना से प्रेरित होकर उसने हेमचन्द्र से एक व्याकरण की रचना करने को कहा। इस निमित्त देश के सभी व्याकरण खरीद कर हेमाचार्य के सम्मुख उपस्थित किए गए। सुदीर्घ अध्ययन और मनन के बाद जब हेमचन्द्राचार्य ने व्याकरण की रचना की तो इसके प्रेरक तथा कर्त्ता दोनों के नाम पर इसका नामकरण 'सिद्ध हेम व्याकरण' किया गया। सिद्धराज ने इसकी प्रतिलिपियां प्रस्तुत कराईं और देश के विभिन्न भागों के विद्या केन्द्रों में इसे भिजवाया। तत्कालीन विद्या केन्द्र काश्मीर में भी इस महाग्रन्थ की बीस प्रतिलिपियां भेजी गई थीं।

इसी महान् ज्योतिपुंज तथा मूर्त प्रतिभा-आचार्य हेमचन्द्र को 'कलिकाल सर्वज्ञ' कहा गया है। इनकी गुरुपरम्परा और प्रारम्भिक जीवन वृत्त इस प्रकार है—श्री दत्तसूरि के शिष्य यशोभद्र हुए। श्री यशोभद्र सूरि ने कठोर साधना एवं तपस्या की। अन्त में उन्होंने उजयन्त तीर्थ (गिरिनार) में उपवास-व्रत कर देहत्याग किया। इन्हीं के शिष्य प्रद्युम्न सूरि थे, जिन्होंने गुणसेन सूरि को दीक्षा दी। श्री गुणसेन सूरि के शिष्य देवचन्द्र

सूरि हुए, जो हेमचन्द्राचार्य के गुरु थे। श्री देवचन्द्रसूरि से हेमचन्द्र को किस प्रकार दीक्षा मिली, इसकी कथा भी अत्यन्त रोचक है। जब श्री हेमचन्द्र यात्रा के प्रसंग में धन्धूक (अहमदाबाद के निकट) नामक स्थान में आए तो यहाँ नित्य छांगदेव नामक मोढ़ वणिक बालक उनके उपदेश बड़ी संलग्नता से सुना करता था। बालक की मुखाकृति और चेष्टाएँ, उसकी महान् प्रतिभा का परिचय देती थीं। यह बालक आचार्य देवचन्द्र के उपदेशों से इतना प्रभावित हुआ कि दीक्षा लेकर उनका शिष्य बन गया। दीक्षा देते हुए आचार्य ने उसका नाम सोमचन्द्र रखा। बालक सोमचन्द्र, अपने आचार्य के सानिध्य में रहता और उन्हीं के साथ यात्रा एवं भ्रमण करता। इस बाल योगी की प्रतिभा अलौकिक और असाधारण थी। फलस्वरूप अल्पकाल में ही वह समस्त शास्त्रों में पारंगत हो गया। गुरु ने प्रसन्न होकर इनका नाम हेमचन्द्र रखा और आचार्यत्व प्रदान किया। इनका जन्म धन्धूक में ईस्वी सन १०८९ में एक व्यापारी के यहाँ हुआ था। पिता श्रद्धालु जैन थे और बालक पर जन्म से ही उनके संस्कार पड़े थे। हेमचन्द्राचार्य के असाधारण पाण्डित्य की कथा सुनकर चौलुक्यराज सिद्धराज जयसिंह इनके भक्त बन गए और नियमपूर्वक उनके उपदेश सुना करते। यही नहीं, सिद्धराज उनसे प्रत्येक शास्त्रीय विषय में परामर्श लेते और पूर्ण संतुष्ट हो जाते थे। मालवा विजय के बाद जब सिद्धराज, अनहिलवाड़ा लौटे तो उनका अभिनन्दन करने विद्वानों की जो मण्डली गई थी, उसमें आचार्य हेमचन्द्र भी थे।

हेमचन्द्र की रचनाएँ

आचार्य हेमचन्द्र की महान् साहित्यिक प्रतिभा का वर्णन करते हुए सोमप्रभाचार्य ने निम्नलिखित भाव व्यक्त किए हैं—

क्लृप्तं व्याकरणं नवं विरचितं छन्दो नवं द्वयाश्रयालंकारौ
प्रथितौ नवौ प्रकटितं श्रीयोग शास्त्रं नवम्
तर्कः सज्जनितो नवो जिन वरादीनां
चरित्रं नवं वद्धं येन केन विधिना मोहः कृतो दूरतः ॥

हेमचन्द्राचार्य ने अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा द्वारा किन नवीन कृतियों को प्रसूत किया, इसका संकेत इस श्लोक में दिया गया है। सिद्धहेम व्याकरण, सिद्धहेम लिंगानुशासन तथा धातुपारायण उनके व्याकरण के ग्रन्थ हैं। शब्दकोषों में उनके अभिधान चिन्तामणि, अनेकार्थ संग्रह, निघंटुकोष, देशी नाममाला, उल्लेख्य हैं। अलकार ग्रन्थों में काव्यानुशासन और छन्द ग्रन्थों मे छन्दोनुशासन प्रसिद्ध हैं। काव्यग्रन्थों में आपका संस्कृत-प्राकृत द्वयाश्रयकाव्य अत्यन्त प्रसिद्ध है। त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र जैसा नाम से प्रकट है जीवन चरित्र है और प्रमाण मीमांसा एवं योग शास्त्र—दर्शन तथा योग के ग्रन्थ हैं।

आचार्य हेमचन्द्र अपने समय के महान् पण्डित हो गए हैं। प्रसिद्धि है कि आपने साढ़े तीन करोड़ श्लोकों की रचना की थी।[1] आपने साहित्य के सभी अंगों के विकास में मौलिक योगदान दिया। सिद्धराज जयसिंह के राज्य काल में ही आप अपनी अधिकांश साहित्यिक रचना पूर्ण कर चुके थे। कुमारपाल के शासन काल में उन्होंने जो रचनाएँ कीं, वे मुख्यत: धार्मिक रही हैं। द्वयाश्रय काव्य में आपने संस्कृत तथा प्राकृत व्याकरण के नियमों का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए अपने संरक्षकों सिद्धराज जयसिंह तथा कुमारपाल (११४३–११७४ ई०) का प्रामाणिक ऐतिहासिक काव्य लिखा। आपका जन्म विक्रम संवत् ११४५ में हुआ और वि० सं० १२२९ में चौरासी वर्ष की अवस्था में निधन हुआ। साहित्य और व्याकरण के क्षेत्र में उनकी महान् देन लोकविदित है और संस्कृत साहित्य में उनका महत्वपूर्ण स्थान है। यह पहले ही लिखा जा चुका है कि सिद्धराज तथा कुमारपाल के शासन काल में गुजरात में अभूतपूर्व साहित्यिक-सांस्कृतिक उत्थान हुआ। हेमचन्द्र, उनके समसामयिकों, उनकी शिष्य मण्डली तथा महामात्य वस्तुपाल एवं साहित्यिक मण्डली ने महत्वपूर्ण साहित्य रचना की।[2]

हेमचन्द्राचार्य की शिष्य मण्डली

आचार्य हेमचन्द्र ने जितना युगान्तरकारी साहित्य स्वयं रचा, उतना ही अधिक उनके समसामयिकों तथा शिष्य मण्डली ने भी इस सांस्कृतिक अभ्युत्थान में योग दिया। आपकी शिष्य मण्डली ने संस्कृत साहित्य के विभिन्न अंगों की रचना की है। इनमें मुख्य हैं श्री रामचन्द्र, जिन्होंने प्रख्यात नाट्यदर्पण की रचना की है। श्री गुणचन्द्र आपके दूसरे शिष्य थे जिन्होंने अपने गुरुभ्राता का 'नाट्यदर्पण' की रचना में सहयोग दिया था। इसी ग्रन्थ में विशाखदत्त के अप्राप्य नाटक 'देवी चन्द्रगुप्तम्' के वे उद्धरण मिलते हैं, जिनसे गुप्तकाल की अनेक अन्धकारपूर्ण एवं अज्ञात घटनाओं पर सर्वथा नवीन प्रकाश पड़ा है। इस नाट्यशास्त्र में अनेक प्राचीन और अब अप्राप्य संस्कृत नाटकों के उल्लेख आए हैं। 'नाट्य दर्पण' की रचना मौलिक पद्धति से हुई है। इसमें भरत के नाट्यशास्त्र से पृथकरूपेण विभिन्न नाटकों तथा रसों के श्रेणी विभाजन की परम्परा को जीवित रखने का प्रयत्न किया गया है। गुजरात में लिखे गए दो दर्जन संस्कृत नाटकों में ग्यारह नाटक तो स्वयं रामचन्द्र ने लिखे। संस्कृत नाट्य के जिन विभिन्न प्रकारों में आपके नाटक आते हैं, उनके नाम हैं—(१) नाटक (२) प्रकर्ण (३) नाटिका तथा (४) व्यायोग।

आपके अन्य शिष्यों में श्री महेन्द्र सूरि ने अनेकार्थ कोश पर टीका लिखी। श्री देवचन्द्र ने चन्द्रालेखा विजय प्रकरण नामक ऐतिहासिक नाटक लिखा, जिसमें कुमारपाल की सपादलक्ष के अरुणोराजा पर विजय तथा उसकी बहन से विवाह का प्रकरण है। श्री वर्धमानगनी ने श्री रामचन्द्र के कुमार विहार प्रशस्ति काव्य पर टीका लिखी और

१. चौलुक्य कुमारपाल : अध्याय ९, पृष्ठ संख्या २४१

२. डा० साण्डेसरा : लिटररी सर्किल आफ महामात्य वस्तुपाल, पृ० ३९.

श्री उदयचन्द्र ने, हेमचन्द्र के योगशास्त्र की व्याकरण की अशुद्धियाँ ठीक कीं। श्री यशश-चन्द्र ने प्रभाकर चरित तथा कुमारपाल प्रबन्ध की रचना की। श्री बालचन्द्र भी, हेमचन्द्रा-चार्य की शिष्य मण्डली में थे। इनके अतिरिक्त भी आपकी शिष्य मण्डली में बहुत से लोग रहे होंगे, इसमें सन्देह नहीं।[1]

हेमचन्द्र के सम सामयिक

आचार्य हेमचन्द्र के सम सामयिकों में सिद्धराज जयसिंह के अन्धकवि श्रीपाल सर्व-प्रमुख हैं। आपने प्रसिद्ध सहस्रलिंग तालाब के निर्माण की प्रशस्ति लिखी है। अब इसका केवल एक अंश ही पाटन के एक मन्दिर में प्रस्तर खण्ड पर मिलता है।[2] रुद्रमहालय की प्रशस्ति भी आपने ही रची थी, ऐसा प्रसिद्ध है। बड़नगर प्रशस्ति के अन्त में कवि श्रीपाल ने अपने विषय में जो उल्लेख किया है उसमें महाप्रबन्ध 'वीरोचन विजय' की चर्चा आई है। श्रीपाल, सिद्धराज के मित्र थे और उनकी राजसभा के मुख्य कवि भी थे। प्रबन्धों से विदित होता है कि भागवत सम्प्रदाय के देवबोध जब अनहिलवाड़ आए थे तो श्रीपाल से उनका विचार-विमर्श हुआ था। यही नहीं, उनके निकट अनेक समकालीन कवि अपनी रचनाओं के संशोधनार्थ आया करते थे। कवि श्रीपाल के पुत्र सिद्धपाल भी अच्छे कवि हो गए हैं। सिद्धपाल के पुत्र विजयपाल हुए, जिन्होंने 'द्रौपदी-स्वयंवर' नामक नाटक का प्रणयन किया था। इस नाटक का अभिनय, भीमदेव द्वितीय के आदेश से, चौलुक्यवंश के प्रतिष्ठापक मूलराज द्वारा अनहिलवाड़ में निर्मित त्रिपुरुष प्रासाद में हुआ था। इससे स्पष्ट है कि इस काल के नाटक केवल पाठ्य ही नहीं अपितु अभिनेय होते थे और उनकी रंगमंच पर अवतारणा होती थी।

सोमप्रभाचार्य—उनकी कृतियां

श्री सोमप्रभाचार्य ने प्राकृत में कुमारपाल प्रतिबोध का प्रणयन किया है। आपकी गणना प्रसिद्ध जैन विद्वानों में होती है। उक्त ग्रन्थ की रचना आपने कुमारपाल की मृत्यु के बाद विक्रम संवत् १२४१ में राजकवि श्रीपाल के पुत्र श्री सिद्धपाल के निवासस्थान पर रह कर की। 'कुमारपाल प्रतिबोध' के अतिरिक्त आपकी दूसरी प्रख्यात् रचना है—'सुमतिनाथ चरित'। इसका अधिकांश भाग प्राकृत भाषा में लिखा गया है और पंचम तीर्थंकर सुमतिनाथ की जीवन गाथा वर्णित है। इसमें साढ़े नौ हजार श्लोक हैं। 'सूक्ति मुक्तावली' आपकी अन्य उल्लेख्य कृति है, इसका एक नाम सिन्दूरप्रकर भी है। आपकी रचना शैली सहज-सरल और बोधगम्य है। 'शतार्थकाव्य' आपकी तीसरी रचना का नाम है। संस्कृत भाषा पर कवि के असाधारण अधिकार का पता, इस ग्रन्थ से सहज में ही प्राप्त होता है। इस रचना की विशेषता के विषय म इतने से ही अनुमान लगाया जा सकता है कि इसमें वसन्त तिलक छन्द का केवल एक ही श्लोक है जिसे सौ प्रकार से

---

१. व्हुलर : लाइफ आफ जैन मौंक हेमचन्द्र, पृष्ठ ६०।
२. आर० सी० मोदी : सातवें अखिल भारतीय प्राच्य सम्मेलन, बड़ौदा का विवरण।

समझाया गया है। इस कृति के 'शतार्थिक' नामकरण का यही छोटा सा इतिहास है। 'सुमतिनाथ चरित' की रचना कुमारपाल के शासन काल में हुई थी।

नाटककार यशपाल और प्रह्लादनदेव

इस समय के प्रसिद्ध नाटकों के रचनाकार श्री प्रह्लादनदेव तथा श्री यशपाल रहे हैं। प्रह्लादनदेव (११७० ई०) चन्द्रावती नरेश तथा कुमारपाल के अधीनस्थ धारावर्ष के भाई थे। 'पार्थ पराक्रमव्यायोग' आपकी प्रसिद्ध रचना है जिसका अभिनय अचलेश्वर की स्थापना के अवसर पर हुआ था। इसकी कथा का आधार महाभारत का विराट पर्व है, जिसमें अर्जुन द्वारा विराट की गौओं का पता लगाने का विवरण है। आपने अन्य रचनाएं भी कीं। आपके सम्बन्ध में सबसे उल्लेख्य एक बात यह है कि श्री रामचन्द्र के बाद, गुजरात में व्यायोग नाट्य रचना केवल आपने ही की।

श्री यशपाल (११७४-७७ ई०) का 'मोहराज पराजय' नाटक, ग्यारहवीं शताब्दी के 'प्रबोध-चन्द्रोदय' के समान रूपक है। इसकी रचना सरल संस्कृत भाषा में की गई है, जिसमें कृत्रिमता नहीं है। यशपाल, कुमारपाल के उत्तराधिकारी अजयपाल का मन्त्री था। यह नाटक इसी काल में लिखा गया और कुमार विहार में महावीर-मूर्ति की प्रतिष्ठापना के समय यात्रा महोत्सव के अवसर पर इसका अभिनय भी हुआ था। इस नाटक से तत्कालीन ऐतिहासिक घटनाओं के अतिरिक्त सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन का बड़ा सजीव चित्र सम्मुख आ उपस्थित होता है। यह पांच ग्रंथों का नाटक है। मध्यकालीन यूरोपीय ईसाई नाटकों से इसका रचना विधान अत्यधिक साम्य रखता है।

काव्यशास्त्र, दर्शन तथा कथासाहित्य

इस युग में नागभट्ट नाम के साहित्यकार हुए जिन्होंने 'वाग्भट्टालंकार' नामक काव्यशास्त्र की रचना की। इनके पिता का नाम सोम था। इसमें कुमारपाल का उल्लेख नहीं। इससे अनुमान किया जाता है कि सिद्धराज जयसिंह की मालवा-विजय के बाद तथा निधन के पूर्व किसी समय इसकी रचना हुई।

इस समय जैन सिद्धान्तों के संस्कृत व्याख्याकारों में आचार्य मलयगिरि का नाम विशेष उल्लेख्य है। आपने अनेक जैन आगमों की संस्कृत टीकाएं लिखीं। मुष्ठि व्याकरण नामक आपका संस्कृत व्याकरण, थोड़े में सम्पूर्ण विषय को बड़ी सुन्दरता से प्रतिपादित करता है। आपकी कृतियों से स्पष्ट है कि ये कुमारपाल के समय विद्यमान थे। आपकी व्याख्याएं अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण हैं और शैली भी सरस एवं सुन्दर। आगम के चार व्याख्याकारों में अन्तिम आप ही थे। मगध में आगम के जिन सिद्धान्तों का निरूपण हुआ उसका अन्तिम सम्पादन तथा उसकी व्याख्याएं गुर्जर देश में ही की गई। कुमारपाल के उत्तराधिकारियों के पश्चात् बारहवीं शती के अन्त में जैन मुनि पूर्णचन्द्र की 'पंचाख्यान' रचना मिलती है, जिसका कथा-साहित्य में विशेष महत्त्व है। यह पश्चिमी भारतीय पंचतंत्र का ही परिमार्जित, परिवर्द्धित एवं संपादित स्वरूप है और इस पर तन्त्राख्यायिका का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

महान् साहित्य साधक महामात्य वस्तुपाल

आचार्य हेमचन्द्र और उनकी साहित्य मण्डली द्वारा गुजरात में जो अभूतपूर्व साहित्य निर्माण की ज्योति आलोकित की गई, उसे उनके परवर्ती काल में अखण्ड बनाए रखने का गौरव महान् साहित्य प्रेमी महामात्य वस्तुपाल तथा उनकी साहित्य मण्डली को प्राप्त है। महामात्य वस्तुपाल ने न केवल साहित्य भण्डार को मूल्यवान् कृतियों से अलंकृत किया अपितु आबू के विश्व प्रसिद्ध कला मन्दिरों का निर्माण कराकर अपने कला प्रेम का ऐसा निदर्शन उपस्थित किया जो अलौकिक और अप्रतिम है। हिन्दू गुजरात के अन्तिम सांस्कृतिक पुनरुत्थान में महामात्य वस्तुपाल तथा उनकी साहित्यिक मण्डली का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।[1]

महामात्य वस्तुपाल ने अनहिलवाड़, स्तम्भतीर्थ तथा भृगुकच्छ में तीन सार्वजनिक पुस्तकालयों की स्थापना की थी। उनका निजी पुस्तकालय भी भारतीय साहित्य के मूल्यवान तथा अलभ्य ग्रंथों से युक्त था। वह स्वयं प्रतिभाशाली साहित्यकार था और एक श्लोक की रचना के लिए सहस्रों रुपयों के पुरस्कार देता था। इसीलिए उसकी प्रसिद्धि लघु भोजराज के नाम से है। प्रबन्धकोश, वस्तुपाल चरित, पुरातन प्रबन्ध संग्रह आदि में उनके साहित्य संरक्षण तथा संवर्धन की अनेकानेक कथाएं मिलती हैं। महामात्य वस्तुपाल के इन्हीं गुणों का वर्णन, सोमेश्वर ने इन शब्दों में किया है:

सूत्रे वृत्तिः कृता पूर्वं दुर्गसिंहेन धीमता।
विसूत्रे तु कृता तेषां वस्तुपालेन मन्त्रिणा ॥[2]

समस्त गुजरात तथा देश के अनेक मूर्धन्य साहित्यकार, महामात्य वस्तुपाल के सम्पर्क में आए। बहुत बड़ी संख्या में साहित्यिकों ने उसके संरक्षण में तथा बहुतों ने उनके प्रोत्साहन से साहित्य की रचना की। वह कविता और कला का सूक्ष्म सौन्दर्य अन्वेषणकर्त्ता तथा उसका विदग्ध मर्मज्ञ था। राजकाज की अत्यन्त व्यस्तता में भी वह अपनी नियमित साहित्यसेवा में किसी प्रकार की बाधा न आने देता था। मूल्यवान ग्रंथों की प्रतिलिपि वह स्वयं किया करता था। उदयप्रभाकृत 'धर्माभ्युदय' महाकाव्य की प्रतिलिपि जो उसके द्वारा सात सौ वर्ष पूर्व लिखी गई थी, अब भी खम्भात के जैन भण्डार में सुरक्षित है। महामात्य वस्तुपाल द्वारा प्रतिलिपि किया गया उक्त महाकाव्य आज भी विद्यमान है, यह वस्तुतः प्रसन्नता की बात है।

काव्य रचना और असाधारण कला-साधना को प्रोत्साहित करने के फलस्वरूप ही महामात्य वस्तुपाल को कवि कुंजर, कवि चक्रवर्तिन, सरस्वती के वरदपुत्र, सरस्वती कण्ठाभरण आदि की उपाधियों से विभूषित किया गया था।[3] वस्तुपाल को श्री नरचन्द्र से

१. भोगीलाल सांडेसरा कृत 'महामात्य वस्तुपाल और उनकी साहित्यिक मण्डली' देखिए।
२. प्रभावक चरित्र, पृष्ठ संख्या—११२।
३. प्रबन्ध चिन्तामणि, पृष्ठ संख्या-१००।

न्याय, व्याकरण, साहित्य तथा जैनदर्शन की शिक्षा प्राप्त हुई थी। तत्कालीन महापण्डितों ने उसका साहित्यिक नाम 'वसन्तपाल' रखा था। अल्पकाल में ही महामात्य वस्तुपाल की काव्य एवं कला-प्रतिभा तथा प्रेम का प्रकाश चारों ओर फैल गया था।

महामात्य वस्तुपाल का नर नारायण महाकाव्य उनकी साहित्यिक प्रतिभा एवं रचना-कौशल की अद्भुत झांकी कराता है। इस महाकाव्य की रचना महाभारत के वनपर्व की कथा के आधार पर हुई है। इसमें नर नारायण अथवा अर्जुन-कृष्ण की मैत्री, रैवकत वन में उनके विहार तथा अर्जुन द्वारा कृष्ण की बहन सुभद्रा के हरण का वर्णन है। इस महाकाव्य की लेखन-शैली तथा प्रबन्धरचना में, महाकवि माघ और भारवि की स्पष्ट छाप दृष्टिगोचर होती है। इसमें नगरों, नृपतियों, राज्यसभाओं, सूर्य, चन्द्र एवं पुष्पों के मनोहारी वर्णन हैं। युद्ध का वर्णन चित्र काव्यों के माध्यम से हुआ है, जिनमें से अनेक संस्कृत साहित्य में विशिष्ट माने जाते हैं। इस महाकाव्य में सोलह सर्ग हैं तथा ७९४ श्लोक। कुमारसम्भव, किरातार्जुनीय, शिशुपाल वध एवं नैषध महाकाव्य की प्रणाली के अनुसार इसका भी प्रारम्भ बिना किसी देवस्तुति के ही हुआ है। महामात्य वस्तुपाल की यह रचना अल्पकाल में ही अत्यन्त लोकप्रिय हो गई। जल्हण ने अपनी सुक्ति मुक्तावली में इसके छन्दों के उद्धरण दिए हैं। इस महाकाव्य के सोलहवें सर्ग के अन्त में अपनी विनम्रता प्रकट करते हुए महामात्य वस्तुपाल लिखते हैं—

उद्धारस्विद्विश्व विद्यानयमय मनग: कोविदेन्द्रा वितन्द्रा
मन्त्री बद्धाञ्जलिर्वो विनयनतशिरा याचते वस्तुपाल:।
स्वल्प प्रज्ञा प्रबोधादपि सपदि मय कल्पितेऽस्मिन् प्रबन्धे
भूयो भूयोऽपि यूयँ जनयत नयन क्षेपतो देषमोषम्॥

इसके अतिरिक्त महामात्य वस्तुपाल ने नेमिनाथ, अम्बिका, आदिनाथ आदिस्तोत्रों की भी रचना की थी। वस्तुपाल की प्रसिद्धि सुक्ति-रचना के लिए भी है। सोमेश्वर तथा उदयप्रभा ने उनका उल्लेख करते हुए उनके काव्य सौन्दर्य की प्रशंसा की है। आपके सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि महामात्य वस्तुपाल ने अपनी मृत्यु शैय्या से दस श्लोकों की एक आराधना लिखी थी और यह व्यक्त किया था कि—'न कृतं सुकृतं किञ्चत्।' आबू प्रशस्ति में महाकवि सोमेश्वर ने काव्य एवं राजनीति दोनों क्षेत्रों में उनकी विशेषता का उल्लेख इस प्रकार किया है—

विरचयति वस्तुपाल श्चुलुक्य सचिवेषु कविषु च प्रवर:।
न कदाचिदर्थ हरणं श्रीकरणे काव्यकरणे वा॥

सोमेश्वर और उनकी रचनाएं

महाकवि सोमेश्वर, महामात्य वस्तुपाल के मित्र तथा उनकी मण्डली के कवियों में प्रमुख थे। आप चौलुक्य राजाओं के पुरोहित वंश के थे। आपने अपनी वंश परम्परा के विषय में 'सुरथोत्सव महाकाव्य' के अन्तिम सर्ग 'कवि प्रशस्ति वर्णन' में परिचय दिया

है। समकालीन कवि श्री हरिहर तथा सुभट्टा ने आपकी रचनाओं की प्रशंसा की है। आपके पिता का नाम कुमार तथा माता का लक्ष्मी था। आपका जन्म गुजरात के एक प्रकाण्ड पण्डित तथा सम्पन्न परिवार में हुआ था। आपका मूल स्थान वडनगर था। आपके पूर्वज चौलुक्य राजाओं के न केवल प्रधानराज-पुरोहित थे बल्कि युद्ध में सेनापति का कार्य भी करते थे। महाकवि सोमेश्वर ने दो महाकाव्यों की रचना की है जिनके नाम हैं—(१) सुरथोत्सव और (२) कीर्ति कौमुदी महाकाव्य। रामायण की कथा के आधार पर उल्लाघराघव नाटक की रचना का अभिनय भी हुआ था। आपने आध घण्टे के साहित्यिक-सांस्कृतिक नाटकों की रचना कर भीमदेव की राजसभा के सदस्यों का परितोष किया था। कर्णामृतप्रपा आपकी स्फुट कविताओं की रचना है और रामशतक में रामवन्दना के सौ श्लोक हैं। नेमिनाथ की मूर्ति की स्थापना के अवसर पर आपने आबू प्रशस्ति की रचना की थी। विद्यानाथ मन्दिर के पुन: निर्माण के अवसर पर १२५५ ई० में रचित विद्यानाथ प्रशस्ति उनकी अन्तिम रचना कही जाती है। महाकवि सोमेश्वर परम शैव एवं शाक्त थे और वैदिक शास्त्रों में उनकी अच्छी गति थी। आपने राम की अभ्यर्थना काव्य-नाटकों में ही की है। आप में समस्यापूर्ति तथा आशुकवित्व की महान् प्रतिभा थी। महाकवि सोमेश्वर के इन गुणों पर प्रसन्न होकर महामात्य वस्तुपाल ने उन्हें अनेक बार पुरस्कृत किया था।

'कीर्ति कौमुदी' आपका ऐतिहासिक महाकाव्य है जिसमें गुजरात की राजधानी अनहिलवाड़ा का कवित्वमय वर्णन तथा यथातथ्य चित्रण मिलता है। इसमें सहस्त्रलिंग तालाब तथा उसके तट पर बने कीर्तिस्तम्भ का वर्णन है। महाकवि सोमेश्वर की उच्चकोटि की कविता का श्रेष्ठ निदर्शन इस प्रसंग में मिलता है। उदाहरण लीजिए :

यस्योच्चैः सरसस्तीरे रजते राजतोज्जवलः।
कीर्तिस्तम्भो नभोगङ्गा प्रवाहोऽवतरन्निव ।।

यह महाकाव्य यद्यपि तत्कालीन वीर के उदात्त चरित्र वर्णन तथा प्रशस्ति के सम्बन्ध में लिखा गया है पर साहित्य की कसौटी पर भी उतना ही खरा उतरता है। आपके आदर्श कवि कालिदास हैं। विद्वानों का मत है कि कालिदास, भारवि तथा माघ के बाद सोमेश्वर की कीर्तिकौमुदी उसी परम्परा में अत्यन्त श्रेष्ठ उतरती है। महाकाव्य 'रघुवंश' के अयोध्या वर्णन का प्रभाव कीर्तिकौमुदी में भी दृष्टिगत होता है। सरल, बोधगम्य और वैदर्भी शैली इस महाकाव्य में व्यवहृत है। आपका सुरथोत्सव महाकाव्य यद्यपि धार्मिक-पौराणिक गाथाओं के आधार पर है, पर इसका राजनीतिक एवं ऐतिहासिक महत्त्व भी है। मारकेण्डेय पुराण के देवी माहात्म्य में राजा सुरथ की कहानी के आधार पर इसकी रचना हुई है। महाकवि सोमेश्वर ने इस महाकाव्य में गौड़ी शैली का प्रयोग किया है। इस रचना का आदर्श कालिदास का काव्य न होकर, माघ का शिशुपाल वध प्रतीत होता है। इसकी भाषा सरल, श्लेषयुक्त है और इसमें शब्दालंकारों का बाहुल्य है।

अन्य उल्लेख्य साहित्य-साधक

महामात्य वस्तुपाल की साहित्य मण्डली के अन्य उल्लेख्य साहित्य-साधकों में सर्व श्री हरिहर, नानाकभूति, यशोवीर, सुभट, अरिसिंह, अमरसिंह, अमरचन्द्रसूरि, विनयसेन सूरि, उदयप्रभ सूरि, जिनभद्र, नरचन्द्र, नरचन्द्र प्रभा सूरि बाल चन्द्र, जयचन्द्रसूरि और माणिक्यचन्द्र विशिष्ट महत्व रखते हैं। इनमें नैषधकार श्री हर्ष के वंशधर श्रीहरिहर का यहाँ विशेष उल्लेख आवश्यक है। प्रबन्धकों के अनुसार हरिहर अत्यन्त सम्पन्न विद्वान् थे और गौड़ देश से ५० ऊंटों २०० घोड़ों तथा ५०० व्यक्तियों के साथ गुजरात आए थे। यहाँ आने पर नरेश वीरधवल और महामात्य वस्तुपाल ने उनका सार्वजनिक स्वागत किया। हरिहर श्रुतधर थे। एक बार श्रवण कर लेने पर तत्काल उसे सुना देने की उनमें अपूर्व क्षमता थी। श्री हरिहर ही गुजरात में नैषध लाये। इसके पूर्व नैषध का नाम भी इस अंचल के लोगों को विदित न था। नैषध की सबसे प्राचीन प्रतिलिपियाँ गुजरात में ही प्राप्य हैं। इनकी दो ताड़पत्रीय प्रतियां पाटन तथा जयसलमेर में सुरक्षित हैं। श्री विद्याधर तथा चण्डू पण्डित ने इस पर टीकाएं लिखीं। कहते हैं कि कवि श्री हरिहर की मूलप्रति वीसलदेव के राजकीय पुस्तकालय में रखी गई थी। इनकी रचनाएं उपलब्ध नहीं। स्फुट रचनाएं प्रबन्ध में मिलती हैं। नानाकभूति, वीसलदेव के राज्य कवि थे। आपने प्रभासपाटन में सरस्वती नदी के तट पर विद्या केन्द्र की स्थापना की थी। यह सरस्वती मन्दिर अब भी विद्यमान है। आपने ऋग्वेद, रामायण, महाभारत, पुराणों एवं स्मृतियों का गहन अध्ययन किया था। आप अच्छे कवि हो गए हैं और कवियों के संरक्षक भी रहे हैं। नानाक की कोई रचना नहीं मिलती। प्रशस्तियों में उनकी काव्य प्रतिभा का वर्णन मिलता है। जब अमरचन्द्र वीसलदेव की राज्यसभा में आये थे तो उनकी प्रतिभा के परीक्षकों में नानाक भी थे। महामात्य वस्तुपाल ने इन्हें उत्कृष्ट काव्य-रचना के लिए पुरस्कृत किया था।

श्री यशोवीर, महामात्य वस्तुपाल के घनिष्ट मित्र थे। महाकवि सोमेश्वर ने इन्हें सरस्वती का वरदपुत्र कहा है। वस्तुपाल से निकट सम्बन्ध के कारण ही इन्हें कवीन्द्र वन्धु की उपाधि प्रदान की गई थी। वे शिल्प शास्त्रक आचार्य और संस्कृत का श्रेष्ठ कवि थे। कीर्ति कौमुदी महाकाव्य में उसकी तुलना यद्यपि कालिदास माघ और अभिनन्द से की गयी है पर उसका कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। चारणों में यशोवीर की ख्याति भी उसकी लोकप्रियता का स्पष्ट प्रमाण है। अनेक अपभ्रंश के दोहे जो चारण उसकी प्रशंसा में गाते थे, प्रबन्धों में मिलते हैं। इनसे गुजरात तथा राजस्थान के लोकसाहित्य के विषय में महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। श्री सुभट को सोमेश्वर ने कविप्रवर कह कर सम्बोधित किया है। वह तर्क शास्त्र का भी ज्ञाता था। उसका लिखा 'दूतांगद' छाया नाटक जिसे हम संस्कृत एकांकी नाटक कह सकते हैं, मिलता है। कहते हैं कि इसका अभिनय चौलुक्य कुमारपाल के सम्मान में आयोजित समारोह में हुआ था।

श्री अरिसिंह भी महामात्य वस्तुपाल के प्रिय पात्र थे। ये प्रसिद्ध कवि तथा

आलंकारिक अमरचन्द्र के कलागुरु थे। सुकृत संकीर्तन महाकाव्य आपकी प्रसिद्ध रचना है। श्री अमरचन्द्र सूरि सर्वतोमुखी प्रतिभा के साहित्यकार थे। उसकी कृति बाल महाभारत, महाभारत का कथासार है और काव्यकल्पलता छन्द शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ। इनकी साहित्यिक ख्याति चतुर्दिक फैल गयी थी। अलंकार प्रबोध, छन्दो-रत्नावली, सत्यादि शब्द सम्मुच्चय, सूक्तावली और कलाकलाप इनकी अन्य रचनाएं हैं। जिस प्रकार कालिदास का नाम दीपशिखा, हर्ष का अनंगहर्ष है उसी प्रकार श्री अमरचन्द्र वेणी कृपाण छन्द के लिए प्रसिद्ध हैं, जिनकी रचना आपने बाल महाभारत में की है।

श्री विजयसेन सूरि न्याय के पण्डित थे। आपने बालचन्द्र की विवेक मंजरी टीका का संशोधन किया था। 'रेवन्तगिरि रासु' आपकी अपभ्रंश रचना है। आप बड़े प्रतिभाशाली कवि थे।

श्री उदयप्रभ सूरि, श्री विजयसेन सूरि के शिष्य थे। कहते हैं कि महामात्य वस्तुपाल ने इन्हें विविध शास्त्रों में पारंगत करने के लिए दूर-दूर से विद्वान् बुलवाये थे। आपकी रचनाओं के नाम ये हैं—धर्माभ्युदय महाकाव्य, सुकृत कीर्ति कल्लोलिनी, वस्तुपाल स्तुति, कर्णिका टीका, आरम्भ सिद्धि और शब्द ब्रह्मोल्लास। आपके शिष्य श्री जिनभद्र थे। इन्होंने गुजरात के इतिहास की पुस्तक—जिसमें पुरानी ऐतिहासिक कथाओं की रचना है—प्रणयन किया।

श्री नरचन्द्र जैन, ज्योतिष के सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ज्योतिषसार' के प्रणेता थे। 'कथारत्न सागर' तथा 'प्राकृत प्रबोध' आपकी उल्लेख्य रचनाएं हैं। श्री नरचन्द्र प्रभा सूरि के अलंकार महोदधि, श्री भालचन्द्र के वसन्तविलास महाकाव्य, श्री जयचन्द्र सूरि के हम्मीर मद मर्दन तथा श्री माणिक्यचन्द के शान्तिनाथ तथा पार्श्वनाथ चरित महाकाव्यों और मम्मट के काव्य प्रकाश की दीपिका या जयन्ती टीका इस युग की महत्त्वपूर्ण रचनाएं हैं। इस प्रकार मूलराज से कर्णबघेल (१२९६—१३०४) अन्तिम हिन्दू राजा तक अभूतपूर्व साहित्य-रचना हुई। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश एवं अपभ्रंशोत्तर काव्य में इस समय जितनी प्रभूत साहित्य साधना हुई उसका बहुत बड़ा भाग अब भी जैन भण्डारों में अप्रकाशित पड़ा है। अनेक महत्त्वपूर्ण संस्कृत ग्रन्थ जो भारत के किसी भाग अथवा अपने मूल स्थान में नहीं मिलते, वे यहां प्राप्य हैं। नैषध महाकाव्य की प्राचीनतम प्रतिलिपि की चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं। ऐसे ही दुर्लभ ग्रथों में राज शेखर की 'काव्य मीमांसा' तथा मूल संस्कृत 'तर्क संग्रह' केवल जैन साहित्य भण्डारों में ही प्राप्य हैं। चौलुक्य-कालीन साहित्य साधना मे महाकाव्यों, नाटकों, व्याकरण, छन्द, न्याय, ज्योतिष, समालोचना, प्रशस्ति, स्तोत्र, स्फुट कविताओं, प्रबन्ध, अपभ्रंश रास आदि की प्रभूत रचनाएं हुई हैं। इनमें से बहुत बड़ा भाग अब भी अप्रकाशित और अज्ञात सा पड़ा हुआ है। उनके प्रकाशन, पुनर्मूल्यांकन तथा उनमें व्यक्त सामाजिक एव सांस्कृतिक परिस्थितियों के चित्रण से ही इस सांस्कृतिक स्वर्णयुग का दीप्तिपूर्ण चित्र, सम्मुख उपस्थित किया जा सकता है।

डा० बाबूराम सक्सेना

भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन की प्रगति*

भाषा-तत्त्व गोष्ठी के इस प्रथम उत्सव पर उपस्थिति पर्याप्त संख्या में है । पर मैंने १६२० में बनारस में जब भाषा तत्त्व का अध्ययन प्रारम्भ किया था तो प्रोफेसर के दुर्भाग्य से और मेरे सौभाग्य से मुझ अकेले के लिए वहाँ एक ही प्रोफेसर थे और प्रोफेसर के लिए मैं एक अकेला विद्यार्थी था। मैं प्रोफेसर आर० एल० टर्नर का जो इस समय लन्दन के स्कूल आव ओरियण्टल एण्ड अफीकन स्टडीज़ के डाइरेक्टर हैं, एकमात्र शिष्य था । अतः जब वे व्याख्यान देते थे तो मुझे पूर्ण मनोयोग से सुनना पड़ता था क्योंकि जो अध्यापक रह चुके हैं वे जानते हैं कि यदि कक्षा में एक ही विद्यार्थी हो और वह भी ऊंघ रहा हो तो…।

मुझे पूर्णरूपेण सचेत रहना पड़ता था क्योंकि मैं अकेला विद्यार्थी था। उस समय भी प्रोफेसर टर्नर दूसरे विषयों के विद्यार्थियों के लिए सर्व-सुलभ व्याख्यान दिया करते थे। पर उन व्याख्यानों में भी श्रोताओं की उपस्थिति एक दर्जन से अधिक नहीं होती थी । यह सन् १६२० की स्थिति थी । पर आज यहाँ पर हमें भाषा-तत्त्व पर व्याख्यान देते हुए एक व्यक्ति को सुनने के लिए इतने अधिक श्रोता एकत्रित दिखाई दे रहे हैं। उस जमाने में लोग पूछते थे कि यह भाषा-तत्त्व क्या बला है ? उत्तर होता था भाषा-तत्त्व से मतलब है भाषाओं के अध्ययन से । तब वे पूछते यदि आपका तात्पर्य भाषाओं के अध्ययन से है तो बताइए आप बंगाली, गुजराती, मराठी और हिन्दी की ध्वनियों में कैसे भेद करेंगे । उन पुराने लोगों को इस विषय पर पूर्णतया सन्तुष्ट कर देना बड़ा कठिन था । सौभाग्य से अब परिस्थितियाँ बदल गई हैं । उत्तर भारत के इस प्रदेश में आधुनिक भाषाओं के सीखने के लिए यह शुभ-सूचक है । भाषाओं के तुलनात्मक और ऐतिहासिक अध्ययन को इधर गति मिली है । पर भाषा-तत्त्व से तात्पर्य केवल भाषाओं के तुलनात्मक या ऐतिहासिक अध्ययन से ही नहीं है। यह भाषा-तत्त्व का एक पक्ष हो सकता है । भाषा-तत्त्व से मतलब है भाषा के अध्ययन से, उसी रूप में उसके अध्ययन से जिसमें वह है, वैसे ही जैसे वनस्पति विज्ञान में पौधे का अध्ययन उसी रूप में होता है जिस रूप में वह पौधा वर्तमान है।

*आगरा के लिंग्विस्टिक सर्किल का उद्घाटन भाषण, ता० २३-२-५७ ई० ।

एक भाषा और दूसरी भाषा में सामान्य चीज क्या है ? मेरे मत से कुछ चीजें सामान्य हैं। कुछ ध्वनियां उनमें समान रूप से मिलती हैं, कुछ अभिव्यक्ति के प्रकार उनमें समान रूप से रहते हैं। यह बात सर्व स्वीकृत है। उदाहरण के लिए हिन्दी और बंगाली में लोग यह जानते हैं कि कुछ समानता है।

हिन्दी और तमिल में भी शब्दावली की दृष्टि से कुछ समानता है। तब प्रश्न यह आता है कि सभी भाषाओं में कौन सी ऐसी मौलिक एकता है जिसके अध्ययन की आवश्यकता है। भाषा-तत्त्व अपने मूल रूप में इसी मौलिक एकता के अध्ययन का शास्त्र है। पिछली शताब्दी में इस बात पर बड़ा विवाद रहा कि क्या वास्तव में सभी भाषाओं में कोई ऐसी चीज है जिसे मौलिक या आधारभूत तत्त्व कहा जाय।

आज हम भाषा-तत्त्व को एक विज्ञान के रूप में स्वीकार करते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि यह वह विज्ञान है जिसमें किसी भाषा को सीखने की विधि का अध्ययन किया जाता है। आप कह सकते हैं कि इन भाषाओं में ये समानताएँ हैं, इनमें ये असमानताएँ हैं, पर भाषाओं को सीखने की विधि में विज्ञान का नाम लेना ठीक नहीं है। पिछली शताब्दी के मैक्समूलर आदि विद्वानों को अपने समकालीन विद्वानों को और मामूली व्यक्तियों को इस बात का विश्वास दिलाने के लिए कि भाषा में भी कुछ आधारिक तत्त्व ऐसे हैं जिनके गम्भीर और वैज्ञानिक अध्ययन में रुचि उत्पन्न करने की आवश्यकता है, बड़ा श्रम करना पड़ा था। आज सचमुच परिस्थितियाँ पहले से अच्छी हैं। क्योंकि और भी कई विद्याओं का आविर्भाव हो चुका है। आज अर्थशास्त्र भी एक विज्ञान है। पुराने लोगों में से कोई भी अर्थशास्त्र को विज्ञान नहीं मानता था। इसी प्रकार से और भी कई नये विज्ञान सामने आए हैं। उनके नाम गिना कर मैं आपका समय नष्ट नहीं करूंगा। भाषा-तत्त्व के अध्येताओं ने यह देखा कि भाषाओं के अन्दर कुछ सामान्य आधारिक तत्त्व अवश्य हैं और कुछ बातें उन्हें उस अध्ययन में ऐसी भी मिलीं जो कोरी कल्पना पर आधारित हैं। उदाहरण के लिए हमें यह विश्वास कराया जाता है कि ब्रह्मा ने विश्व की उत्पत्ति की और देवताओं की भाषा संस्कृत को हमें प्रदान किया। भाषा पृथ्वी पर वैसे ही आई जैसे गंगाजी इस धरती पर आयीं और लोग शुरू से ही संस्कृत बोलने लगे। पहले प्राचीन ऋषियों ने उसे बोलना शुरू किया फिर अर्वाचीन ऋषियों ने और फिर सबने उसे बोलना शुरू कर दिया। हम लोगों ने उसे सीखा। क्या यह सत्य है ? क्या हिब्रू को हम भाषाओं की जननी मान सकते हैं ? क्या बौद्धों की भाषा मागधी हमारी मूल भाषा हो सकती है और क्या जैनों की आर्ष भाषा को हम मूल भाषा कह सकते हैं? कहा जाता है कि पशु-पक्षी भगवान महावीर के प्रवचनों को समझ लेते थे। ये सब समाधान केवल परम्परा पर आधारित थे। उस समय के भाषा-तत्त्व विदों से पूछा जाता था कि भाषा की उत्पत्ति कैसे हुई ? वाद विवाद होता था और लोग कहते थे कि इन्हें इतना भी नहीं मालूम कि भाषा की उत्पत्ति कैसे हुई। फिर अन्य प्रश्नों का उत्तर ये कैसे दे सकेंगे ? वनस्पति विज्ञान के अध्येता से भी यही प्रश्न किया जा सकता है कि क्या तुम यह मूल बात जानते हो कि पौधा कैसे उगता है ? कैसे उसमें पत्तियाँ आती हैं ? कैसे फूल खिलते हैं ? क्या तुमने इन प्रश्नों का उत्तर पा लिया है और उत्तर होता

था—'नहीं' तब भाषा तत्त्व विद् भी कह देता था कि हम भी भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध की मूल बात को इसी तरह नहीं जान पाये हैं। फिर अनेक दिशाओं में अनुमान और कल्पना की दौड़ होती थी। डार्विन का विकासवाद का सिद्धान्त उस समय भी लोगों के सामन था।

लोग सोचते थे कि शायद जंगली लोगों की भाषाओं से या बच्चों की भाषा से हमें कुछ इस समस्या के हल का उपाय सूझ जाय। इन पर प्रयोग भी हुए। पर अन्त में निराश ही होना पड़ा। भाषा की उत्पत्ति का पता हम नहीं लगा सके। यह बहुत अंशों तक दर्शन का विषय था या जिसे हम कल्पना मूलक दर्शन कहते हैं उसका विषय था। पर दर्शन और चाहे जो कुछ हो कल्पना मूलक नहीं हो सकता। अतः यह प्रश्न भाषातत्त्व विदों ने कल्पना करने वालों के लिए छोड़ दिया। वे इस परिणाम पर पहुंचे कि वे केवल भाषा का, जैसी वह है, अध्ययन करें और भाषाओं के मूल में निहित आधारिक तत्त्व का पता लगायें।

एक दूसरा सवाल यह पैदा हुआ कि क्या बोलचाल की भाषा के अध्ययन का कोई उपयोग भी है सिवाय इसके कि लोगों के विचारों के परस्पर आदान प्रदान का वह एक साधन हो। क्या यह अध्ययन इस विज्ञान के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण है। फिर आप पुरानी भाषाओं का भी अध्ययन करते हैं। वास्तव में भाषा वैज्ञानिक अध्ययन को योरोप के लोगों द्वारा संस्कृत की खोज से ही नवीन बल मिला। जब तक उन्हें संस्कृत का पता नहीं लगा या उन्हें यह मालूम ही नहीं था कि ग्रीक और लैटिन की एक बहिन दूर समुद्र पार भी कहीं है, वह बहिन जो उन्हीं की तरह विकसित है, जिसमें इन दोनों योरोप की प्रतिनिधि भाषाओं से भी विशेष मात्रा में कुछ सामान्य विशेषताएं वर्तमान हैं। फिर भाषा-विज्ञान के सिद्धान्तों पर पुरानी भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन करने पर पिछली शताब्दी के पिछले पचास वर्षों में विद्वानों को यह अनुभव हुआ कि भाषा-विज्ञान का अध्ययन तब तक सर्वाङ्गपूर्ण नहीं हो सकता जब तक हम प्रचलित बोलचाल की भाषाओं को उतना ही महत्त्व न दें जितना पुरानी भाषाओं को देते हैं।

वास्तव में पुरानी भाषाओं से अधिक प्रचलित भाषाएँ ही भाषावैज्ञानिकों के अध्ययन के लिए अधिक उपयुक्त क्षेत्र है। एक प्रोफेसर ने अभी हाल में भाषा वैज्ञानिक अध्ययन को यह नई प्रवृत्ति देने की चेष्टा की है और विभिन्न तत्त्वों से संगठित आज की कई प्रचलित भाषाओं का अध्ययन हो चुका है। अफ्रीका महाद्वीप की प्रचलित भाषाओं का अध्ययन हो चुका है। अमेरिका महाद्वीप के आदिम निवासियों की भाषाओं का भी अध्ययन किया जा चुका है और भारत की आदिम जातियों की भाषाओं की ओर भी ध्यान आकर्षित किया गया है उदाहरण के लिए मुण्डा जाति की भाषा और ऐसी अन्य भाषाएँ। इन भाषाओं के अध्ययन के बाद पुरानी भाषाओं के अध्ययन के आधार पर बनाए गए सिद्धान्तों में परिवर्तन करना पड़ा।

आधुनिक भाषा-विज्ञान में एक बड़ा भारी मोड़ आ गया है। अब भाषाओं के विवरण को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा है। यह विवरण इस ढंग का होता है कि

भाषा-विद् कुछ न कुछ मात्रा में उस विवरण को प्रभावित भी कर सके। यह आज का विवरणात्मक भाषा-विज्ञान है।

अमरीकी भाषा-विदों ने इस दिशा को सर्वाधिक प्रगति दी है। पिछली शती में इस प्रकार के अध्ययन पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया था। अब ध्वनि-तत्त्व विज्ञान (Phonemics) पर विशेष बल दिया जाता है। कम से कम मैं जब विद्यार्थी था तब इसके अध्ययन का कोई आधार नहीं था। उस समय तो मैं ध्वनि तत्त्व (Phonemics) का अर्थ भी नहीं जानता था। पर आज यह भाषा-विज्ञान की एक अत्यन्त विकसित शाखा है। अतः जसा और विज्ञानों के साथ है, भाषा विज्ञान में विकास का क्रम जारी है। तीस साल पहले का रसायन-विज्ञान आज का रसायन विज्ञान नहीं है। बीस साल पहले का भौतिक शास्त्र आज का भौतिक शास्त्र नहीं है। इसी तरह उन्नीसवीं शती का भाषा-विज्ञान अथवा इसी शती के पहले चार दशकों का भाषा-विज्ञान आज के भाषा-विज्ञान से बिलकुल भिन्न था।

फिर आज इस विज्ञान के अध्ययन के लिए कुछ ऐसी मशीनें और वस्तुएँ आविष्कृत हो गयी हैं जो आधुनिक प्रकार के भाषा के अध्ययन में बहुत सहायता पहुँचाती हैं। पुराने वैद्य और हकीम केवल नब्ज़ देखकर या ज़बान देखकर भीतर के रोग का निदान कर लेते थे पर आज का डाक्टर केवल इन चीजों से संतुष्ट नहीं होता। वह खून की जाँच करेगा, पेशाब की जाँच करेगा और न जाने कितने यन्त्रों का प्रयोग करेगा। हमने भी पुराने दन्त विशेषज्ञ के कुछ उपकरण ले लिए हैं। हमने कृत्रिम तालु उनसे लिया है। इस कृत्रिम तालु को हम मुँह में लगा लेते हैं, फिर कुछ ध्वनियों का उच्चारण करते हैं और देखते हैं कि उन्हें बोलते समय किसी विशेष ध्वनि के लिए वह किन स्थानों पर छुआ जाता है। उससे फिर तालु-चित्र (Palatograms) बन सकते हैं। फिर कायमोग्राफ की मशीन है, टेप रिकार्डर है। आज ये सब चीजें प्रयोग में आने लगी हैं और अब हम बहुत कुछ इन यन्त्रों पर निर्भर रहते हैं। और यह प्रगति का ही सूचक है। अपने समय में जब मैंने ध्वनि-विज्ञान (Phonetics) सीखा तो मुझे बिलकुल अपने कानों पर ही निर्भर रहना पड़ता था। आज आपको केवल कानों के भरोसे ध्वनियों का अध्ययन करने की आवश्यकता नहीं है, वैसे ही जैसे आज के डाक्टर को केवल नब्ज के सहारे इलाज करने की ज़रूरत नहीं है। जिस प्रकार वह अन्य परीक्षणों के सहारे कार्य करता है वैसे ही आपको भी केवल कल्पना और अनुमान के सहारे आज इतना काम नहीं करना है जितना आधुनिक यन्त्रों के सहारे। जिस तरह भाषा-विज्ञान की यह ध्वनि-विज्ञान की शाखा बहुत विकसित हो चुकी है वैसे ही अर्थ-विज्ञान (Semantics) की शाखा भी विकसित हुई है। इसका सम्बन्ध अर्थ से है। रूप-विज्ञान (Morphology) की शाखा ने भी एक नया मोड़ लिया है। इसका सम्बन्ध शब्दों की रचना से होता है। यह सब योरोप और अमरीका के विद्वानों के एक वर्ग के उत्साहपूर्ण कार्य का परिणाम है।

हमारा देश भाषा-विज्ञान के अध्ययन में भी अग्रणी रहा है। हमारे यहां पाणिनि जैसे वैयाकरण हुए हैं जिनकी समानता आज का कोई भी वैयाकरण नहीं कर सकता। संस्कृत जैसी जटिल भाषा को उन्होंने विस्तार से वर्णित किया और इतने संक्षेप में वर्णित किया कि आज हमें आश्चर्य होता है कि यह कैसे सम्भव हो सका। संसार के व्याकरण-साहित्य में पाणिनि की अष्टाध्यायी अद्वितीय कही जाती है। फिर हमारे यहाँ निरुक्ति (Etymology) की परम्परा थी जिसका विकास यहाँ खूब हुआ। शब्दों की निरुक्ति के क्षेत्र में यास्क का निरुक्त अनुपम ग्रन्थ है। विभिन्न मन्त्रों में शब्द के विभिन्न प्रयोगों को ध्यान में रख कर आप किसी शब्द की उनकी बतलायी हुई निरुक्ति पर सहमत न हो सकें, यह दूसरी बात है।

जब आप अर्थ-विज्ञान की ओर दृष्टि डालेंगे तब भी आश्चर्य चकित रह जायेंगे कि पुराने ऋषि इतनी गहराई तक कैसे पहुंच सके।

कई सालों पहले मुझे पटना विश्वविद्यालय में अर्थ-विज्ञान (Semantics) पर कुछ व्याख्यान देने पड़े थे। तब मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि इन भारतीय विद्वानों की कृतियों का गम्भीर अध्ययन करना चाहिए। और उस अध्ययन ने मेरी आंखें खोल दीं। पश्चिम में जर्मन या फ्रेंच विद्वानों ने अर्थ-विज्ञान पर इस काल में जो काम किया है वह हमारे वैयाकरणों द्वारा किए गए कार्य की तुलना में कुछ भी नहीं है और वैयाकरणों से अधिक इस दिशा में काम किया है हमारे दार्शनिकों ने।

अर्थ-विज्ञान का मुख्य प्रश्न है कि अमुक शब्द से अमुक अर्थ का सम्बन्ध कैसे है अथवा कोई विशेष शब्द कोई विशेष अर्थ कैसे ग्रहण करता है। यह प्रश्न प्रभूत विस्तार के साथ या आश्चर्यजनक संक्षिप्ति से विवेचित हुआ है। जो इन ग्रन्थों को पढ़ेगा वह अर्थ-विज्ञान के तत्व को भली प्रकार समझकर हृदयंगम कर सकेगा। भाषा की दार्शनिक पृष्ठभूमि जानने के लिए आपको भर्तृहरि के वाक्यपदीय की कोटि का ग्रन्थ आज के युग में नहीं मिलेगा।

प्रस्तुत प्रश्न को हम शब्दार्थ-सम्बन्ध (पतंजलि) का नाम भी दे सकते हैं। इसका मतलब है कि शब्द और अर्थ में कुछ सम्बन्ध होता है यह बात सर्वस्वीकृत थी। पर यह सम्बन्ध किस प्रकार बनता है? एक ही शब्द 'हट' हिन्दी में कुछ अर्थ रखता है और अँग्रेजी में कुछ। बहुत से ऐसे शब्द हैं जिन्हें आप हिन्दी में भी बोलते हैं और अँग्रेजी में भी पर दोनों भाषाओं में बिलकुल भिन्न अर्थों में। ऐसा क्यों होता है? वह कौन सी चीज है जो अर्थ का शब्द से सम्बन्ध करती है। आप कह सकते हैं यह रूढ़ि के द्वारा होता है। यह संकेत भी कहलाता है। पर यह रूढ़ि जिसके द्वारा शब्दों के संकेत बनते हैं भिन्न देशों में भिन्न क्यों होते हैं?

ये कुछ आधारभूत समस्याएँ हैं जिन्हें 'वाक्यपदीय' में उठाया गया है लेकिन जो आज के विद्वानों द्वारा सोची भी नहीं गयी है। यह हमारा उत्तराधिकार है जो हमें पूर्वजों से मिला है पर हममें से बहुत से जो भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में जुटे हुए हैं केवल नौसिखिये

भर हैं। योरोप और अमरीका में दिग्गज विद्वान् इस कार्य में जुटे हुए हैं। हमें भी कठोर परिश्रम की आवश्यकता है। यह सही है कि भाषाओं के विषय में मनोरंजक विवरण हमें उपलब्ध हैं। हम स्वयं अपनी ही वाणी पर विस्मय विमुग्ध हो सकते हैं। पर हम अलग भी रुक कर यह नहीं सोचते कि हमारी भाषाओं में यह आश्चर्यपरक तत्त्व कैसे आ जाता है। हम कभी उनकी तरफ ध्यान भी नहीं देते। जैसे हिन्दी में ही 'मैं आ गया' का मूलतः अर्थ होगा मैं आकर चला गया, पर क्या कोई व्यक्ति वास्तव में आकर चला गया है? वह तो केवल आया भर है और जब वह आ चुका तो उसने कहा कि 'मैं आ गया।' लेकिन आप जो वास्तव में कहते हैं क्या आपका वही उद्दिष्ट अर्थ भी है? अगर आप किसी के बहुत अन्तरंग मित्र हैं तो आप कह सकते हैं कि 'तुम आ मरे' अर्थात् तुम यहाँ आकर मर गये। यह आप कौन सी भाषा बोल रहे हैं? बागची साहब कुछ सुझाव दे रहे हैं? यदि वे अँगरेज़ी ग्रन्थ मीनिंग आव् मीनिंग के रचयिता को जिसने इस प्रकार के कथनों की आलोचना की है, अपने सुझाव देते तो अच्छा रहता। उस लेखक को एशिया की भाषाओं में भी ऐसे उदाहरण मिले।

मैं सो गया—क्या कोई व्यक्ति सो जाने के बाद कहीं जा सकता है? क्या यह सम्भव हो सकता है। यह आप कौन सी भाषा बोल रहे हैं? लक्षणा? लक्षणा वैयाकरण की चीज़ है। प्रोफेसर गुलाबराय! बोलने वाला लक्षणा व्यंजना नहीं जानता। यह तो विवेचक का काम है। हम सब कह सकते हैं कि यहां से सड़क स्टेशन को जाती है। पर क्या सड़क भी कहीं जा सकती है? आप सड़क पर जा सकते हैं पर सड़क कहीं नहीं जा सकती। हम यह नहीं कहते कि आप ग़लत बोल रहे हैं। मतलब सिर्फ़ इतना है कि भाषा में अर्थाभिव्यक्ति के कुछ नियम होते हैं। जब शब्द विचारों की परम्परा को अभिव्यक्त नहीं कर पाते तो एक समस्या आ खड़ी होती है यह रहा अर्थ के सम्बन्ध में, शब्दों की रचना के सम्बन्ध में, उनके व्याकरण सम्बन्धी व्युत्पत्ति के सम्बन्ध मे। कुछ लोग कह सकते हैं हर एक भाषा का एक व्याकरण होता है। पर कुछ ऐसी भी भाषाएँ हैं जिनका कोई व्याकरण ही नहीं है। इण्डोनेशिया की कुछ भाषाओं में कोई व्याकरण नहीं है। चीनी भाषा में कतई व्याकरण नहीं है।

हिन्दी में बड़ी चीज़ों का बोध पुल्लिंग से होता है और छोटी चीज़ों का स्त्री लिंग से। यह हमारी हिन्दी का अभिव्यक्ति-प्रकार है। पर दक्षिण अफ्रीका की सोमाली भाषा[1] में एक सिंह का बोध पुलिंग से होता है और कई सिंहों का स्त्री लिंग से। हमारी अपनी संस्कृत भाषा में ही लिंग सम्बन्धी विचित्रताएँ हैं। दारा : स्त्री : वहां पुल्लिग है, जिसमें कुछ वीरत्व की भावना का इंगित मिलता है। कलत्र शब्द में वह नपुंसक लिंग में व्यक्त की जाती है तब उसका भी अर्थ वही है—स्त्री। ऐसा क्यों होता है। संस्कृत में जल के लिए 'अपस्' शब्द है जो नपुंसक लिंग में है। ये सब प्रश्न है जो उन लोगों

१. सोमाली भाषा है—देखिए डा० बाबूराम सक्सेना, सामान्य भाषा विज्ञान, सन् १९५० तृतीय सं० पृष्ठ २०० ।

को परेशान किये रहते हैं जिनकी भाषा में लिंग है। हिन्दी की लिंग-समस्या अहिन्दी भाषियों के लिए बिलकुल समस्या ही है। जब भाषा-आयोग के सदस्य के नाते मैं धुर दक्षिण और धुर पूर्व में गया तो मुझे इन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। ये कुछ समस्याएँ हैं जिन्हें हमारे भाषा विद् सुलझा रहे हैं। लेकिन कुछ और भी समस्याएँ हैं जो बड़ी मनोरंजक हैं और जिन्हें हम अभी तक नहीं सुलझा सके हैं। उदाहरण के लिए आप हमारे वाइसचांसलर भटनागर की आवाज पहचानते हैं और वे दूसरे कमरे में बोल रहे हैं तो झट पहचान लेंगे कि यह उन्हीं की आवाज है। इसी तरह मेरी आवाज को भी या कोई भाई-बहन हैं तो उनकी आवाज को भी, सिर्फ उस वाणी के किसी तत्त्व या गुण को पकड़ कर आप उनकी समानता पहचान लेंगे। लेकिन हम अभी तक वाणी के इस तत्त्व या गुण को नहीं पकड़ सके हैं। आधुनिक भाषा-तत्त्व में आधुनिक यन्त्र भी उस तत्त्व (Timbre) या गुण (Quality) को नहीं पकड़ सके हैं। यह भी हमारे समक्ष एक समस्या है। भाषा-विज्ञान ने कुछ समस्याओं को सुलझाया है और कुछ को सुलझाने का प्रयास कर रहा है। भाषा-विज्ञान वाणी के किसी भी रूप की अवहेलना नहीं करता। यह बात मैं जोर देकर आपके सामने रखना चाहता हूँ। वाणी का कोई भी रूप चाहे वह नीचे से नीचा हो चाहे ऊँचे से ऊँचा हो, भाषा-तत्त्व विद् के लिए उपेक्षणीय नहीं है। इसीलिए भाषा-तत्त्व विद् एक भाषा और दूसरी भाषा में अन्तर नहीं करता। वह अपनी भाषा खूब अच्छी तरह जानता है और वही उसके अध्ययन का सबसे बढ़िया माध्यम है। दूसरी भाषाओं के प्रति उसके मन में आदर होता है। वाणी को हमें प्यार करना पड़ेगा, उसका आदर करना पड़ेगा, वह ब्रह्म का ही एक स्वरूप है, वह शब्द-ब्रह्म है। हम भारतीय तो कल्पना और अनुमान (speculation) से ही आरम्भ करते हैं और वहीं पर समाप्त कर देते हैं। हमारा सबसे बड़ा दर्शन अनुमान है, नास्तिक दर्शनों में वह निषेध है और आस्तिक दर्शनों में वह अस्तित्व है। हमारे कविकुल गुरु ने कहा है :—

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थ-प्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ ।।

पार्वती परमेश्वर को हमारा प्रणाम है।

डा० माताप्रसाद गुप्त

मध्ययुगीन युद्ध-वर्णन का एक रोचक प्रसङ्ग

सुकवि नयचन्द्र सूरि विरचित संस्कृत के 'हम्मीर महाकाव्य' में अलाउद्दीन और हम्मीर के युद्ध के बीच एक प्रसंग आता है,[1] जिसका सारांश मात्र नीचे दिया जा रहा है :

एक दिन की बात है कि गढ़ की दीवाल (प्राचीर) पर हम्मीर ने एक नृत्य-संगीत के अखाड़े की योजना की। इस समारोह में वीणा, वेणु, मृदंग, ताल आदि अनेक वाद्यों के साथ धारादेवी नाम की एक नर्तकी के नृत्य का आयोजन हुआ। यह नर्तकी अपने नृत्य के प्रसंग में जान बूझकर अलाउद्दीन की ओर पीठ करके कौशल-प्रदर्शन करने लगी। अलाउद्दीन उस समय गढ़ के निकट नीचे ही घेरा डाले पड़ा था, और अपने शिविर से देख रहा था कि उसकी अवगणना के हेतु हम्मीर ने इस प्रकार का यह आयोजन किया था। उसका क्रुद्ध होना स्वाभाविक था, और उसने अपने पार्श्ववर्तियों से पूछा कि क्या उनमें से कोई भी ऐसा था जो एक बाण के संधान द्वारा उस नर्तकी को काल के मुख में पहुँचा देता। एक सामंत ने बताया कि ऐसी क्षमता एकमात्र उड्डानसिंह में थी जिसको उसने बंदी कर रखा था। उड्डानसिंह को तत्काल मुक्त किया गया और वह अलाउद्दीन के सम्मुख लाया गया। अलाउद्दीन ने उससे उस नर्तकी को लक्ष्य करके अपना संधान-कौशल प्रदर्शित करने के लिए कहा। उड्डानसिंह ने आज्ञा का पालन किया और एक क्षण में ही उस रूपवती नर्तकी का सुन्दर शरीर विद्ध होकर गढ़ की दीवाल पर से नीचे धड़ाम से आ गिरा। इस घटना से हम्मीर का सामंत महिमाशाही इतना क्षुब्ध हुआ कि उसने तत्काल अपने धनुष पर वाण चढ़ाकर अलाउद्दीन को उसी प्रकार एक वाण से काल के मुख में भेजने की अनुमति हम्मीर से माँगी जिस प्रकार उसने धारा देवी को भिजवाया था। हम्मीर ने कहा कि वह उसके असाधारण संधान-कौशल को भलीभाँति जानता था, किंतु उसे इस बात से दुःख होगा कि अलाउद्दीन का इस प्रकार से वध हो, क्योंकि उसकी मृत्यु से एक ऐसे पराक्रमी शत्रु का अभाव हो जावेगा जो उसके साथ शस्त्र-ग्रहण कर सकता। महिमाशाही ने हम्मीर की

१. 'हम्मीर महाकाव्य'—नीलकंठ जनार्दन कीर्तने द्वारा संपादित, सर्ग १३, श्लोक १—३७।

बात मानली और उसी चढ़े हुए वाण से उसने उस उड्डानसिंह का प्राणान्त कर दिया जिसने उक्त नर्तकी का वध किया था। इस घटना से अलाउद्दीन इतना भयभीत हो गया कि उसने तत्काल झील के पूर्वीय पार्श्व से अपना शिविर हटा कर गढ़ की पश्चिम की ओर लगवाया, जहाँ वह अधिक सुरक्षित रह सकता था।

नयचंद्र सूरि अथवा उनकी इस रचना की ठीक तिथि ज्ञात नहीं है, किंतु रचना की एकमात्र प्रति, जिसके आधार पर उसका संपादन किया गया है, सं० १५४२ की है। यदि रचना का समय इस प्रति से पचास वर्ष पूर्व भी माना जावे, तो वह सं० १४६२ के निकट ठहरता है।

अलाउद्दीन से संबंधित एक अन्य महत्वपूर्ण रचना सुकवि पद्मनाभ रचित 'कान्हड दे प्रबंध' में भी यह प्रसंग पाया जाता है।[1] कान्हड दे जालौर का राजा है, जो मारवाड़ देश में स्थित है। उसी पर अलाउद्दीन ने आक्रमण का आयोजन किया है। मार्ग में स्थित समीयाणे में उसका भतीजा सांतलसिंह शासक है, इसलिए अलाउद्दीन समीयाणे पर आक्रमण कर देता है। अलाउद्दीन के उस आक्रमण का सामना सांतलसिंह कितनी धीरता और निर्भीकता के साथ करता है, उसे यह दिखाने के लिए वह नित्य ही नृत्य-संगीत का समारोह करता है। उसी में एक दिन घटना इस प्रकार घटती है :

गढ़ ऊपरि नितु हुइ पेषणां, सुणीइ वेणि मृदंग।
नितु उछव नितु पाउल नाचइ, नितु नितु नवला रंग ॥११६
चडी त्रिकलसइ सांतल बइसइ, बिहुं पषि चामर ढालइ।
कटक मांहि सिघासणि बइसइ, पातिसाह निहालइ ॥११७
चडइ साद सारही तेडाणा, बोलइ असपति राउ।
गढ़ ऊपल्यूं पेषणूं जे भांजइ, आपूं बहुत पसाउ ॥११८
मलिक अमादल केरउ बंदउ, नामु हवाषु मीर।
पाटउ बाँधी जउ सर नांषइ, तुहि न चूकइ तीर ॥११९
सींगिणि तणा बिकोसां मेली, प्राणि तीर विछूटउ।
हस्तक धरि सोलहीनइ वाज्यु, अंगि सूंसरउ फूटउ ॥१२०
पडी धरातलि ऊपर भागूं, रोसि चड्यउ चहूआण।
सांतल भणइ सारही तेडउ, जेह न चूकइ बाण ॥१२१
रामसीह राउ रोसालउ, ततपिण मागइ बीडउं।
सांतलसीह प्रतापि तुम्हारइ, म्लेच्छां थाहर फेडउं ॥१२२

---

१. 'कान्हडदे प्रबंध'—श्री कांतिलाल बलदेवराम व्यास द्वारा संपादित, और राजस्थान पुरातत्व मंदिर, जयपुर से प्रकाशितः खंड २, छंद, ११६—१२४।

लीउं बाण सींगिणि गुण परठिउ, नाषंतां गुण गाज्यउ।
मीर हबाषा कंध विछोडी, बीलष षाटइ वाज्यउ ॥१२३
दीठउ तुरक पडिउ सुरताणइ, ततषिण छांडिउं ठाण।
मरण तणइ भइ सहू को बीहइ, वली आवेस्यइ बाण ॥१२४

इस उद्धरण से ज्ञात होगा कि कथा प्रायः पूर्ववर्ती ही है, केवल पात्रों के नाम भिन्न हैं। 'कान्हड दे प्रबंध' का रचना-काल सं० १५१२ है, जो उसके रचयिता पद्मनाभ ने उसके अंत में स्वतः दिया है।

पुनः यही प्रसंग अलाउद्दीन और रत्नसेन के युद्ध-वर्णन में मलिक मुहम्मद जायसी के 'पदमावत' में आता है।[1] अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार जायसी ने इसमें राग-रागिनी संबंधी विस्तार भी किया है। उस संगीत-विस्तार विषयक छंद को छोड़कर शेष प्रसंग इस प्रकार है :

तबहूँ राजा हिएँ न हारा। राजपँवरि पर रचा अखारा।
सौहें साहि जहँ उतरा आछा। ऊपर नाच अखारा काछा।
जंत्र पखाउझ आउझ बाजा। सुरमंडल रबाब भल साजा।
बीना पिनाक कुमाइच कहे। बाजे अंब्रित सो गह गहे।
चंग उपंग नागसुर तूरा। महुअरि बाज बंसि भल पूरा।
हुरुक बाज डफ बाज गँभीरा। औ तेहि गोहन झांझ मँजीरा।
तंत्त वितंत्त सुभर घनतारा। बाजहिं सबद होइ झनकारा।
जस सिंगार मनमोहन पातर नाँचहिं पाँच।
पतिसाहि गढ़ छेंका राजा भूला नाँच ॥५२७

पतुरिनि नाँचै दिहें जो पीठी। परि गै सौंह साह कै डीठी।
देखत साहि सिंघासन गूँजा। कब लगि मिरिग चंदरथ भूँजा।
छाड़हु बान जाहिं उपराहीं। गरब केर सिर सदा तराहीं।
बोलत बान लाख भा ऊँचा। कोइ सो कोट कोइ पँवरि पहूँचा।
मलिक जहाँगिर कनउज राजा। वोहिक वान पातरि कहँ बाजा।
बाजा बान जंघ जस नाँचा। जिउ गा सरग परा भुइँ सांचा।
उदसा नांच नचनिआ मारा। रहसे तुरुक बाजि गए तारा।
जो गढ़ साजा लाख दस कोटि सँवारहिं कोट।
पातिसाहि जब चाहै बचहि न कौनिहु ओट ॥ ५२९

१- पदमावत छंद ५२७-५२९ (हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित 'जायसी-ग्रंथावली' संस्करण)।

जायसी के 'पदमावत' का रचनाकाल ६४७ हिजरी (=सं० १६५७ वि०) है। पूर्ववर्ती दोनों कथाओं से तुलना करने पर पात्रों के नामों के अतिरिक्त एक ही अंतर 'पदमावत' की इस कथा में ज्ञात होगा, वह है अलाउद्दीन का बलाधिक्य। नर्तकी के वध का बदला जिस प्रकार हम्मीर तथा कान्हड दे ने लिया है, रत्नसेन नहीं लेता है—कदाचित् वह अलाउद्दीन-पक्ष के इस सफल प्रदर्शन से आतंकित भी हो जाता है, जैसा ऊपर उद्धृत अंत के दोहे से ध्वनित होता है।

पुनः यह प्रसंग तुलसीदास के 'राम चरित मानस' में मिलता है।[१] राम ने रावण पर आक्रमण कर दिया है। चन्द्रोदय के अनंतर राम सुबेल शैल-शिखर से लंका की ओर देखते हैं, तो विभीषण से कहते हैं :

देखु बिभीषन दच्छिन आसा। घन घमंड दामिनी बिलासा।
मधुर मधुर गरजइ घन घोरा। होइ बष्टि जनु उपल कठोरा।

और बिभीषण उत्तर में कहता है :

कहइ बिभीषन सुनहु कृपाला। तडित न होइ न बारिद माला।
लंका सिखर रुचिर आगारा। तहँ दसकंधर देख अखारा।
छत्र मेघडंबर सिर धारी। सोइ जनु जलद घटा अति कारी।
मंदोदरी स्रवन ताटंका। सोइ प्रभु जनु दामिनी दमंका।
बाजहिं ताल मृदंग अनूपा। सोइ रव मधुर सुनहु सुर भूपा।

इस पर राम स्वयं अपना संधान-कौशल इस प्रकार प्रदर्शित करते हैं :

प्रभु मुसुकान समुझि अभिमाना। चाप चढ़ाइ बान संधाना।
छत्र मुकुट ताटंक तब हते एक ही बान।
सबके देखत महि परे मरम न कोऊ जान॥
अस कौतुक करि राम सर प्रबिसेउ आइ निषंग।
रावन सभा ससंक सब देखि महा रस भंग॥१३
कंप न भूमि न मरुत बिसेखा। अस्त्र सस्त्र कछु नयन न देखा।
सोचहिं सब निज हृदय मँझारी। असगुन भयउ भयंकर भारी।
दस मुख देखि सभा भय पाई। बिहँसि बचन कह जुगुति बनाई।
सिरउ गिरे संतत सुभ जाही। मुकुट खसे कस असगुन ताही।
सयन करहु निज निज गृह जाई। गवने भवन सकल सिर नाई।

'मानस' की इस कथा में भी 'पदमावत' की भांति शौर्य-प्रदर्शन एक ही ओर से

१. रामचरित मानस, लंका० १३-१४।

होता है, राम-पक्ष से; रावण-पक्ष से उसका कोई उत्तर नहीं दिया जाता है, केवल युक्ति-पूर्वक रावण उसकी अवगणना करता हुआ दिखाई पड़ता है।

किन्तु इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य है कि रावण के मुकुटों के गिराए जाने की कल्पना तुलसीदास की अपनी नहीं है, वह उन्हें 'अध्यात्म रामायण' से प्राप्त हुई है,[1] जो उसमें इस प्रकार दी हुई है :

"रावण अपने राजभवन के सर्वोच्च तल पर बैठ कर वानर सैनिकों को देखता हुआ अपने आस-पास बैठे हुए राक्षसों को युद्ध के लिए नियुक्त करने लगा। इधर रामचन्द्रजी ने रावण को बैठा देख अति क्रोधातुर हो लक्ष्मण जी का लाया हुआ धनुष उठाया। वह शिर पर मुकुट धारण किए अपने अनेकों मंत्रियों से घिरा हुआ बैठा था। भगवान राम ने आधे निमेष में ही एक अर्द्धचन्द्राकार वाण से उसके हजारों श्वेत छत्र और दशों मुकुट काट डाले। यह बड़ा आश्चर्य-सा हो गया। इससे लज्जित होकर रावण तुरन्त अपने घर में घुस गया, और उस दुष्ट ने शीघ्र ही प्रहस्त आदि मुख्य-मुख्य राक्षसों को बुला बानरों के साथकर युद्ध करने की आज्ञा दी।"

ऐसा प्रतीत होता है कि 'अघात्म रामायण' की उक्त कथा में कुछ सुधार करते हुए उसे तुलसीदास जी ने युद्ध वर्णन-विषयक मध्ययुगीन अखाड़े के प्रसंग की भूमिका प्रदान कर दी।

फिर यह प्रसंग जोधराज कृत 'हम्मीर रासो' में भी आता है। 'हम्मीर रासो' के संपादक ने लिखा है कि हम्मीर के चरित्र विषयक कोई ग्रंथ ग्वाल कवि का भी है,[2] किंतु वह अप्रकाशित है, और अभी तक मुझे उसकी कोई हस्तलिखित प्रति भी देखने को नहीं मिली है, इसलिये मैं नहीं कह सकता कि यह प्रसंग उसमें है या नहीं। 'हम्मीर रासो' में यह इस प्रकार है :

हम्मीर राव ऊपरि प्रसाद। तहाँ कर्‌यौ अखारौ इंद्र बादि।
तहाँ चंद्रकला पातुर प्रबीन। सो नृत्य करै सुंदर नबीन ॥६२२
हम्मीर राव राजत मसंद। दुहुँ ओर चौर ढारैं अमंद।
यहि देखि साहि गरि गयौ गब्ब। हम्मीर इन्द्र पदवी सु सब्ब ॥६३०
अभिमान तजत नहि मिल्यौ मोहि। नहिं सेख देय संका न कोहि।
यह चंद्रकला पातुर सुभेव। बरु हाव भाव हस्तक सुदेव ॥६३१
बर्षत कटाक्ष ऊपरि सुराव। मोहिं गिनत नाहिं कछु रहत चाव।
तब तान गान गावंत आनि। एड़िय सुबाल मोहि फिरत बानि ॥६३२

१ अध्यात्मरामायण (गीता प्रेस), युद्ध कांड, सर्ग ५. श्लोक ४१-४६।

२. 'हम्मीर रासो' (ना० प्र० स०) भूमिका, पृ. १।

अपमाँन बाल कीन्हो अनंत । एड़ी दिखाय मुझ को हसंत ।
करि कोप कहै पतिसाह एम । मैं करों बड़ो जिस को सुप्रेम ।।६३३
जो हनै बाल कहि तीर पाहि । रस भंग करै मैं गिनों ताहि ।
सुनि बचन मीर गभरू सुसेख । कर जोरि कीन्ह बानी विसेष ।।६३४
यह धर्म्म पुरुष को कितहु नाहिं । तिय ऊपर ऊँचो करत बाँहि ।
तब कहत साहि इम सजो बाँन । नुकसाँन होय अरु बचै ज्याँन ।।६३५
सुनि बचन स्रवन कम्माँन लीन । सो ऐंचि स्रवन तिय चरन दीन ।
तब परी बाल ह्वै बिकल भूमि । रस भंग भयो सब लषत घूमि ।।६३६
लगि तीर सभा मै परी जाव । तब बढ्यो सोच हम्मीर राव ।
अब लों न तीर दुग्गहिं पहुँच्चि । यह कौन औलिया आय सच्चि ।।६३७

देखि तीर अचिरज हुए गढ़ मैं आवत सीर ।
चक्रत चहुँ दिसि चाहि कै रह्यौ राव हम्मीर ।।६३८
मुरझि तिरिय धरणी परी, भए राव चित भंग ।
राव कहै ऐसे बली किते साह कै संग ।।६३९
महिमा साहि हमीर सैं कही बात कर जोर ।
सकल साह के हसम में है लघु भैया मोर ।।६४०
नहिं दूजो कोउ साह कै सबरे दल में और ।
मीर गभरू अनुज मम जामें इतनो जोर ।।६४१
नाहिं जती बिन जोग सूर बिन तेग न होई ।
इते साह कै संग मीर सरभर नहिं कोई ।
करो हुकम मोहि राव साह को हनौं ततच्छिन ।
मिटै सकल उतपात भाज सब सेन जाय विन ।
हँसि कही राव हम्मीर तब यह खुदाय दूजो दुनी ।
सिर बचै साह छत्र जु उड़ै यह कौतुक कीजे गुनी ।।६४२
करि साहिब को याद सीस हम्मीरहिं नायौ ।
कियौ हुक्म तब राव कोपि कै बाँन चलायौ ।

१. ''हम्मीर रासो' (ना० प्र० स० चतुर्थ संस्करण) छंद ६२२—६४६ । बीच के ६२३—२९ तक के छंदों में वाद्यों तथा राग-रागनियों के संबंध के विस्तार मात्र हैं ।

अनल पंख मनुपरिय टूटि आकास धरन्निय ।
भयौ सोर बर सद्द परयौ महि छत्र बरन्निय ।
मुरझाय साह भूमैं परे उड्यौ छत्र आकास दिस ।
तब कही उजीर पतसाह सों तजी ज्यांन परिहरि सु रिस ।।६४३
पिछले निमक की दोस्ती करी जांन बकसीस ।
जो दूजो सर छंडिहै हनिहै बिस्वा बीस ।।६४४
जा गढ़ मै महिमा रहै किम आवै वह हथ्थ ।
अहि ज्यूं गही छछूंदरी यों हजरत की गथ्थ ।।६४५

इस घटना के अनंतर अलाउद्दीन ने 'हम्मीर रासो' में घेरा उठा कर दिल्ली की ओर प्रस्थान कर दिया है ।

'हम्मीर रासो' की कथा प्रायः वही है जो नयचंद्र सूरि के 'हम्मीर महाकाव्य' की है, किन्तु (१) उड्डानसिंह के स्थान पर यहाँ गभरू है, (२) यहाँ नर्तकी का प्राण नहीं लिया गया है, केवल उसके चरणों को विद्ध किया गया है, और (३) यहाँ महिमा ने उड्डान सिंह के प्राण न ले कर अपने बाणों से केवल अलाउद्दीन का छत्र उड़ा दिया है । पहला अंतर साधारण है । किन्तु दूसरा अंतर तुलसीदास के 'सीता चरन चोंच हति भागा' (मानस, अरण्य० १) का स्मरण दिलाता है, और इसी प्रकार तीसरा अंतर भी तुलसीदास के 'छत्र मुकुट ताटंक सब हते एक ही बान' (मानस, लंका० १३) का ।

जोधराज ने 'हम्मीर रासो' की रचना-तिथि स्वतः इस प्रकार दी है :—

चंद्र नाग वसु पंच गिनि संबत माधव मास ।
शुक्ल सुत्रतिया जीव जुत ता दिन ग्रंथ प्रकास ।९७८

इससे वह तिथि सं० १८८५ ठहरती है ।

यह प्रसंग पुनः चंद्रशेखर वाजपेयी के 'हमीर हठ' में भी आता है ।[1] विस्तारभय से इस रचना से उक्त प्रसंग को उद्धृत करना अनावश्यक प्रतीत होता है । कथा वही है जो नयचंद्र सूरि के 'हम्मीर महाकाव्य' और जोधराज के 'हम्मीर रासो' में आई है । अंतर यह है कि (१) यहां नर्तकी का नाम नहीं दिया गया है—'हम्मीर महाकाव्य' में वह धारा है, 'हम्मीर रासो' में वह चंद्रकला है, (२) अलाउद्दीन की ओर से वाण-वेध उड्डान सिंह ही करता है गभरु नहीं, (३) नर्तकी की छाती में बाण मारा जाता है, चरणों में नहीं, और (४) मीर महिमा उड्डानसिंह का प्राणांत न कर अलाउद्दीन का छत्र मात्र अपने बाण से गिराता है । यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि चंद्रशेखर वाजपेयी ने नयचंद्र सूरि और जोधराज

१. हम्मीर हठ (लहरी प्रेस, बनारस) छंद १७०—२११

दोनों की रचनाओं से सहायता लेते हुए जो कथांश जिसका अच्छा लगा है, ग्रहण कर लिया है। केवल, नर्तकी का नाम नहीं दिया है, कदाचित् इसलिए कि नाम दोनों आधार-ग्रंथों में भिन्न भिन्न थे।

ऊपर मध्य युग के आधे दर्जन ग्रंथों से यह दिखाया गया है कि युद्ध-वर्णन में नृत्य-संगीत के अखाड़े की योजना कितनी प्रचलित थी। खोज करने पर मुझे विश्वास है कि यह प्रसंग और भी अनेकानेक ग्रंथों में इसी प्रकार मिलगा।

डा० विश्वनाथ प्रसाद

आगरे की खड़ी बोली

लिखित साहित्य में खड़ी बोली का प्रथम-प्रथम प्रयोग हमें लल्लू जी लाल के प्रेमसागर की भूमिका[1] में मिलता है। प्रायः इसी समय (१८०३ ई० में) फोर्ट विलियम कालेज के डा० जान गिलक्राइस्ट[2] तथा पं० सदल मिश्र[3] ने भी इस नाम का उल्लेख किया था। पर लल्लू लाल ने नामोल्लेख ही नहीं किया है उसके साथ कुछ और शब्दों को जोड़कर एक सांकेतिक वर्णन भी दे दिया है। उस अंश को यहां उद्धृत करना आवश्यक जान पड़ता है।

"श्रीयुत गुन-गाहक गुनियन-सुखदायक जान गिलकिरिस्त महाशय की आज्ञा से संबत् १८६० में श्री लल्लूलाल जी लाल कबि ब्राह्मन गुजराती सहस्र-अवदीच आगरेवाले ने विसका सार ले, यामनी भाषा छोड़, दिल्ली आगरे की खड़ी बोली में कह, नाम 'प्रेमसागर' धरा।"

यहाँ शंका यह उठती है कि आगरा तो ब्रजभाषा-क्षेत्र के अन्तर्गत है, फिर वहां की खड़ी बोली कैसी। पहले तो खड़ी बोली शब्द स्वतः मानो व्याख्या की अपेक्षा रखता है। कुछ लोगों ने खड़ी का खरी रूप स्वीकार करके उसका अर्थ किया है

---

१. प्रेमसागर (का० ना० प्र० सभा, सं० १९७९ ग्रंथकार की भूमिका, पृ० १।

२. Dr. G.B. Gilchrist, The Hind Story Teller, Vol II, 1803 पृ० ii।
और ,, The Oriental Fabulist, 1803, पृ० V; VII
और ,, Hindi-Roman Ortho-epigraphic Ultimatum, 1804, पृ० १९ (पाद टिप्पणी)
दे० T. Grahame Bailey 'Does Kharī Bolī mean nothing more than Rustic speech ? (B.S.O.S., Grierson Vol., लंदन, Jan. 1936, पृ० ३६६-६७)
इसमें गिलक्राइस्त के सभी उद्धरण इकट्ठे दे दिए गए हैं। हिन्दी में उनके रूपान्तर के लिए दे०—डा० शितिकंठ मिश्र—खड़ी बोली का आंदोलन, काशी सं० २०१३, पृ० ३ तथा टी० ग्रैहेम बेली का वही लेख—ना० प्र० पत्रिका भाग १७, सं० १९९३, पृ० १०५.

३. सदल मिश्र—नासिकेतोपाख्यान, काशी, सं० २००७ वि०, पृ० २

'विशुद्ध या बिना मिलावट का'[४] । कुछ लोगों ने 'खरी' से 'तेज' या 'तीखी' का अर्थ समझा है और बतलाया है कि ब्रजभाषा की तुलना में यह भाषा कुछ खरी-सी लगती है। डा० चाटुर्ज्या ने तो खड़ी बोली के तर्ज पर 'पड़ी बोली' की भी कल्पना कर डाली है । वे लिखते हैं—इसे लोग 'खड़ी बोली' कहने लगे थे, जब कि ब्रजभाषा, अवधी आदि अन्य बोलियाँ, 'पड़ी बोली' (=गिरी हुई भाषा) कही जाने लगी थीं[५] । न जाने 'पड़ी बोली' के उस तथाकथित नामकरण का आधार क्या है ? संभव है विद्वान् लेखक ने पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के निम्नलिखित कथन से संकेत ग्रहण किया हो—

"विदेशी मुसलमानों ने आगरे, दिल्ली, सहारनपुर, मेरठ की 'पड़ी' भाषा को 'खड़ी' कर अपने लश्कर और समाज के उपयोगी बनाया ।"[६]

स्पष्ट है कि यहाँ गुलेरीजी ने आगरे, दिल्ली, सहारनपुर, मेरठ में प्रचलित खड़ी बोली के ही ठेठ रूप के लिए 'पड़ी' शब्द का तुक बाँधा है, ब्रजभाषा, अवधी आदि अन्य बोलियों के लिए नहीं । श्रद्धेय डा० धीरेन्द्र वर्मा ने 'खड़ी बोली' का अर्थ-विन्यास करते हुए कहा है—

"ब्रजभाषा की अपेक्षा यह बोली वास्तव में खड़ी सी लगती है, कदाचित् इसी कारण इसका नाम खड़ीबोली पड़ा ।"[७] परन्तु यह स्पष्टीकरण भी आनुमानिक ही कहा जा सकता है। एक ही भाषा किसी को खड़ी सी लग सकती है और किसी को पड़ी सी । इधर आगरे जिले में, ऐसी बोली को जो तू-तेरे आदि भद्दे, गँवार, कर्कश और कठोर शब्दों के व्यवहार के कारण अखरे, ठाड़ी बोली कहते हैं ।[८] ग्रामीण

---

४. गार्सां द तासी तथा ईस्टविक (१८५१ ई०) ने खड़ी का यही अर्थ ग्रहण किया है ।

५. डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या—भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी (राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड, बम्बई) १९५४, पृ० २०३.

६. चन्द्रधरशर्मा गुलेरी—पुरानी हिन्दी, ना० प्र० पत्रिका वि० सं०१९७८ भाग २, पृ० ५, २१, २४१, ३७१

७. डा० धीरेन्द्रवर्मा—हिन्दी भाषा का इतिहास (हिन्दुस्तानी एकेडेमी, संयुक्त प्रान्त प्रयाग) १९४९ ई०, पृ० ६४ ।

८. इस अर्थ में ठाड़ी बोली या गँवारी बोली के प्रयोग के विषय में मिलाइए—
Ida C. Ward, The Phonetics of English, Cambridge, 1948, पृ० ३ । बुंदेलखंड में भी खड़ी बोली को ठाढ़ी बोली या 'तुर्की' कहते हैं (दे० कामताप्रसाद गुरु—हिन्दी व्याकरण, नया संस्करण, पृ० २७ पा० टि०) मारवाड़ी में इसको 'ठांठ बोली' कहते हैं । स्वत: खड़ी बोली प्रदेश के लोग अपनी बोली को किसी विशेष नाम से अभिहित नहीं करते । गाजियाबाद से श्री हरिश्चन्द्र जी ने, जो मेरठकी खड़ी बोली पर अनुसन्धान कर रहे हैं, मुझे सूचित किया है कि पछाँह के लोग मेरठ की बोली को पूरबी बोली और यमुना के इधर के लोग जो स्वयं खड़ी बोली बोलते हैं, इस बोली को 'वार' की बोली कहते हैं । एक और नाम भी चलता है—'देस की बोली ।' यों अब पढ़े-लिखे लोगों में 'खड़ी बोली' नाम भी प्रचलित हो चला है ।

'गँवारी बोली'[९] के लिए खड़ी बोली शब्द के प्रयोग का उल्लेख आगरा गेजेटियर में भी दिया गया है। परन्तु यहाँ यह भी बता दिया गया है कि खड़ी बोली शब्द का यह स्थानीय प्रयोग ब्रजभाषा के ही उस रूप का द्योतक है, जो पूर्व प्रदेश की तथाकथित अन्तर्वेदी से प्राय: अभिन्न है। सम्भवत: इसी अधार पर डा० गियर्सन ने भी खड़ीबोली को ब्रजभाषा का पर्यायवाची माना है।[१०] आधुनिक साहित्यिक हिन्दी के मूल रूप के लिए उन्होंने खड़ी बोली का नहीं, वरन् वर्नाक्यूलर हिन्दुस्तानी शब्द का प्रयोग किया है।[११]

इन प्रयोगों से ऐसा जान पड़ता है कि जनसाधारण में प्रचलित बोलचाल की ठेठ भाषा के लिए ही खड़ी बोली शब्द का व्यवहार किया गया है। अखरनेवाली गँवारी बोली के अर्थ में लल्लू जी लाल खड़ी बोली का प्रयोग कदापि नहीं करते, क्योंकि इससे तो उनकी कृति की हीनता ही सूचित होती।[१२] वस्तुत: उन्होंने अपने प्रेमसागर की भाषा को ब्रजभाषा और रेखते की साहित्यिक भाषा से भिन्न बोलचाल की ठेठ भाषा के रूप में ग्रहण किया है। अपनी लालचन्द्रिका की भूमिका में वे लिखते हैं—

"इसमें जो पोथियाँ ब्रजभाषा औ खड़ी बोली औ रेखते की बनाईं सो सब प्रसिद्ध हैं।"

यहाँ स्पष्टत: खड़ी बोली को ब्रजभाषा और रेखते से पृथक् प्रतिपादित किया गया है। रेखते से भिन्न करने के लिए प्रेमसागर में 'यामनी भाषा' छोड़ने की बात पर जोर दिया गया है और ब्रजभाषा से अन्तर करने के लिए ही उसे दिल्ली आगरे की खड़ी

---

९. Western Hindi is split up into several sub-divisions. That known as Hindostanī or Urdu is spoken by 17.3 percent of the population representing for the most part the inhabitants of the city of Agra. The bulk of the people speak the Braj dialect, which is practically identical with the so-called Antarvedi of the eastern parts, known locally as *gaonwari* or *Khariboli*." Agra District Gazatteer, 1905 पृ० ८२-८३।

१०. देखिए L. S. I. Vol IX Pt. I, 1919, पृष्ठ २९१ और ५९२।

११. देखिए L. S. I. Vol. I, Pt. I, 1927, पृष्ठ १६४।

१२. इस सम्बन्ध में उर्दू के प्रसिद्ध विद्वान डा० अब्दुलहक। (उर्दू रिसाला, जुलाई, १९३३, पृ० ५९०) के विचारों के खण्डन के लिए—
दे० T. Grahame Bailey—Does Kharī Bolī mean nothing else than Rustic Speech (B. S. O. S. Vol VIII, 1935 पृ० ३६३-७१) तथा T. Grahame Bailey—The use and Meaning of the Term Kharī Bolī—(J. R. A. S., 1926, पृ० ७१९-२३)

बोली कहा गया है। यह गाँव-वारी या गँवारी खड़ी बोली नहीं बल्कि ठेठ भाषा का वह रूप है, जो दिल्ली में और आगरे में प्रचलित थी।

यह ठीक है कि आगरा ब्रजभाषा-क्षेत्र में है। यहाँ उस समय भी ब्रजभाषा बोली जाती थी और अब भी बोली जाती है। पर साथ ही यह भी ठीक है कि आगरा बहुत पहले से ही उस भाषा का भी केन्द्र बन चुका था, जो दिल्ली की प्रचलित भाषा से बहुत भिन्न नहीं थी और जो एक ही साथ जनसाधारण तथा शिष्ट समाज के व्यावहारिक जीवन में प्रयुक्त होने के कारण धीरे-धीरे एक स्टैंडर्ड रूप ग्रहण करती जा रही थी। अँगरेजी के 'स्टैंडर्ड' शब्द की व्युत्पत्ति के मूल में भी 'स्टैंड' धातु है, जिसका अर्थ है खड़ा होना। डा० ग्रैहेम बेली[१३] ने उसका अर्थ स्टैंडिंग या चलती भाषा लिया है। दिल्ली-आगरे की बोलचाल की भाषा के स्टैंडर्ड रूप या चलते रूप के अर्थ में खड़ी बोली शब्द का प्रयोग फोर्ट विलियम कालेज के उन अँग्रेज अधिकारियों की भी रुचि के अनुकूल था, जिनकी प्रेरणा और आदेश से प्रेमसागर की रचना हुई थी। प्रमसागर की जो प्रति १८१० ई० में प्रकाशित हुई थी, उसके आवरण-पृष्ठ पर 'हिंदुवी' शब्द अंकित है। इससे यह स्पष्ट है कि लेखक ने प्रेमसागर की 'खड़ी बोली' को 'हिंदवी' ही माना है।[१४] इस प्रकार लल्लू जी लाल ने खड़ी बोली का जो थोड़ा सा वर्णन दिया है, उससे और उसके प्रसंग से यह संकेतित होता है कि उनकी दृष्टि में—

(१) खड़ी बोली ब्रजभाषा और रेखता दोनों से ही भिन्न एक बोलचाल की भाषा है।

(२) वह गँवारी भाषा नहीं, वरन् एक व्यावहारिक तथा परिनिष्ठित भाषा है, जिसमें साहित्यिक ग्रन्थ भी लिखे जा सकते थे।

(३) उसमें 'यामनी' भाषा के शब्दों को जोड़ देने से रेखता का रूप हो जाता था और उन्हें छोड़ देने से 'हिंदुवी' का।[१५]

(४) वह दिल्ली और आगरे की भाषा है।

---

१३. दे० पाद टिप्पणी १२ में उल्लिखित ग्रैहेम बेली का निबन्ध।

१४. देखिए लल्लू जी लाल—प्रेमसागर—ग्रन्थकार की भूमिका, पृ० १-२।

१५. डा० जान गिलक्राइस्ट के प्रयोगों से ऐसा जान पड़ता है कि उनकी दृष्टि में खड़ी बोली हिन्दुस्तानी की वह विशिष्ट शैली है जिसे हिंदवी कहते है और जो अरबी-फारसी का प्रायः पूर्ण परित्याग करके विशुद्ध रूप में रहती है। इससे भिन्न यह मत है कि खड़ी बोली दिल्ली और उसके आसपास की सामान्य भाषा है, जिससे हिन्दी और उर्दू—ये दोनों वर्ग अपभाषाएँ निकली हैं। दे० शमशेरसिंह नरूला, हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं का वैज्ञानिक इतिहास, (राजकमल प्रकाशन, बम्बई, दिल्ली, इलाहाबाद, पटना, मद्रास, १९५७ ई०, पृ० ११८—११९) इस विचार में भी हिन्दी को एक सम्प्रदायिक भाषा के ही रूप में ग्रहण किया गया है।

शेष पृष्ठ ५५ पर

गियर्सन ने निर्देश किया है, कि हिन्दुस्तानी का अर्थ दो पक्षों में ग्रहण किया जाना चाहिए—एक तो पश्चिमी हिन्दी की उस बोली के अर्थ में जो गंगा के उत्तरी दुआब, रोहेलखण्ड, अम्बाला जिले के पूर्वी हिस्से मेरठ तथा उसके उत्तर में प्रचलित है। और दूसरे भारत की विख्यात साहित्यिक भाषा तथा इस समस्त प्रदेश की राष्ट्रभाषा के अर्थ में।[१६] डा० धीरेन्द्र वर्मा ने भी बताया है, कि साहित्यिक अर्थ में प्रयुक्त खड़ी बोली शब्द के भेद को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए।[१७]

परन्तु उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है, कि लल्लू जी लाल ने खड़ी बोली शब्द का प्रयोग यदि साहित्यिक भाषा के अर्थ में किया है, तो दूसरी ओर दिल्ली और आगरे की बोलचाल की व्यावहारिक भाषा के अर्थ में भी। खड़ी बोली के इस अर्थ की पुष्टि शिवसिंह सेंगर के सरोज से भी होती है। लल्लू जी लाल के विषय में उन्होंने लिखा है :—

ये महाराज वार्तिक भाषा की बोलचाल में प्रथम आचार्य हैं इनका बनाया हुआ प्रेमसागर ग्रन्थ इस बात का साक्षी है और दोहा चौपाई आदि सीध सादे छन्दों के बनाने में भी निपुण थे सभा विलास २ माधव विलास ३ वार्तिक राजनीति ४ इत्यादि इनके बहुत सुन्दर हैं।"[१८]

लल्लू जी लाल की भाषा के बोलचाल के रूप का विचार करते समय एक ही साथ उसके चार पक्षों की ओर ध्यान जाता है—

(१) उसका अखिल भारतीय या राष्ट्रभाषा-पक्ष।

(२) उसका साहित्यिक पक्ष।

इससे कुछ विपरीत यह मत है कि खड़ी बोली जब चारों ओर फैल गई और स्थानीय बोलियों से उसका रूप थोड़ा बहुत विकृत हो गया तो वही आधुनिक हिन्दी का आधार बनी, दिल्ली के आस-पास की खड़ी बोली नहीं। (दे० हिन्दी शब्द-सागर की भूमिका, काशी, सन् १९२९, पृ० २०६-२०७ रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी-साहित्य का इतिहास, काशी, वि० सं० २००९, पृ० ४१४)।

सदलमिश्र ने 'खड़ी बोली' का जो प्रयोग किया है, उससे यह स्पष्ट होता है कि खड़ी बोली दिल्ली-आगरे में ही सीमित नहीं थी, बल्कि शिष्ट, साहित्यिक भाषा के रूप में उसका प्रसार आरा तक हो चुका था और उधर के स्थानीय प्रयोगों के मिश्रण से उसकी शैली में स्वभावतः रूपान्तर का क्रम भी चल रहा था। परन्तु इस निबन्ध में हमारा ध्यान खड़ी बोली के उस विस्तृत रूप की ओर नहीं, उसके उस विशिष्ट स्थानीय रूप की ओर है, जिसका सम्बन्ध आगरा शहर से है।

१६. L. S. I., Vol. I, Part I, 1927, पृष्ठ १६४।
१७. धीरेन्द्र वर्मा—हिन्दी भाषा का इतिहास, पृष्ठ ६४।
१८. शिवसिंह सेंगर—शिवसिंह सरोज, सं० १९३४, पृ० ४४५।

(३) उसका विशुद्धि-पक्ष।

(४) उसका स्थानीय पक्ष।

वस्तुत: हिन्दी को पंजाब से बिहार तक क्या, सारे देश भर की जनता में प्रचलित देखकर ही उसमें ग्रन्थ लिखने के लिए सन् १८०० ई० में लल्लू लाल जी की नियुक्ति फोर्ट विलियम कालेज में हुई। प्रेमसागर का प्रकाशन होते ही अँगरेजों ने देखा कि भाषा का यही रूप जनसमाज के लिए सहज और सुबोध है, फारसी-अरबी से लदी हुई उर्दू नहीं। यही कारण है कि प्रकाशित होते ही इस ग्रन्थ का उपयोग शिक्षा-संस्थाओं मे सर्वत्र पाठ्य-ग्रन्थ के रूप में होने लगा और वर्षों तक होता रहा। थोड़े ही समय में उसके दो-दो अनुवाद अँग्रेजी में प्रकाशित हुए। १९४८ ई० में कप्तान विलियम हॉलिंग्स ने और १८९७ में फ्रेडरिक पिन्कॉट ने उसके अँग्रेजी अनुवाद किए। हॉलिंग्स ने अपनी भूमिका में लिखा है :—

"भारत के प्रत्येक सरकारी अफसर के लिए यह आवश्यक है कि वह हिन्दी का मनोयोगपूर्वक अध्ययन करे, क्योंकि यही एक भाषा है जो इस देश के प्राय: प्रत्येक भाग के निवासियों द्वारा समान रूप से बोली जाती है।" उन्होंने यह भी बताया कि सैन्य-विभाग के अधिकारियों के लिए तो यह विशेष रूप से उपयोगी है, क्योंकि इसका ज्ञान उन्हें केवल अपने आदमियों के सामान्य व्यवहार तथा काम-काज की बातों को समझने की ही योग्यता नहीं, वरन् उनसे खुलकर बातचीत करने में कुशलता भी प्रदान करके उन्हें इस योग्य बना देता है कि वे उनके स्वभाव, व्यवहार, रीति-रिवाज, मनोभावों और विचारों की साधारण प्रवृत्तियों को समझ सकें। प्रेमसागर की हिन्दी की शुद्धता की प्रशंसा करते हुए उन्होंने उसे सभी प्रेसिडेन्सियों में परीक्षा की पाठ्य-पुस्तक के रूप में व्यवहृत होने के लिए उपयुक्त बताया।

इसी प्रकार फ्रेडरिक पिन्कॉट ने भी अपने अनुवाद की भूमिका में प्रेमसागर की सराहना करते हुए लिखा है कि लल्लू जी लाल पश्चिमी हिन्दी के अग्रदूतों में से थे और उत्तर भारत में रहने वाले प्रत्येक यूरोपीय के लिए उनकी इस पुस्तक का प्राथमिक महत्त्व है। ईसाई धर्म-प्रचारकों, शिक्षकों तथा अन्य लोगों के लिए जिन्हें जनवर्ग के बीच रहकर काम करना है, भारत की इस महान् भाषा को सीखना परमावश्यक है और इस बात के लिए लल्लू जी लाल के प्रेमसागर से बढ़कर और कोई पुस्तक नहीं हो सकती। वस्तुत: यूरोपीय लोगों ने बहुत वर्षों तक इस ग्रन्थ का इस रूप में सदुपयोग किया।

प्रेमसागर की भाषा के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए ग्रियर्सन ने लिखा है[१९] कि इस प्रकार की भाषा इस देश में इसके पहले कभी थी ही नहीं। इसका प्रारम्भ १९वीं सदी के प्रारम्भ में अँगरेजों के प्रभाव से हुआ। इसके पहले यदि कोई हिन्दू उर्दू

१९. देखिए—ग्रियर्सन द्वारा संपादित लालचन्द्रिका की भूमिका, १८९५ ई० और L. S. I., Vol I, Part I, 1927, पृ० १६६

से पृथक् गद्य लिखना चाहता था तो अपनी स्थानीय बोली अवधी, बुन्देली, ब्रजभाषा, वर्नाक्युलर हिन्दुस्तानी और न जाने किस-किस में लिख डालता था। जान गिलक्राइस्ट की प्रेरणा से प्रेमसागर की रचना करके लल्लू जी लाल ने स्थिति बदल दी। जहाँ तक इसके गद्य का संबंध है, यह वास्तव में उर्दू में ही लिखा गया था, जिसमें उन स्थानों में जहाँ कि कोई उर्दू लिखनेवाला फारसी शब्दों का व्यवहार करता, वहाँ भारतीय आर्य शब्द रख दिए गए थे। ग्रियर्सन ने यहाँ तक कह डाला है कि प्रेमसागर को लिखकर लल्लू जी लाल ने बिलकुल एक नई भाषा गढ़ डाली।[20] इसने हिन्दुओं को एक राष्ट्र-भाषा दी, जिसमें सुदूर प्रान्तों के लोग मुसलमानों के असंस्कृत शब्दों का आश्रय लिए बिना आपस में बातचीत कर सकें।

स्पष्ट है कि इस प्रकार की अनर्गल और निराधार बातें ग्रियर्सन ने या तो अँगरेजों की महिमा बखानने के मोह में या भ्रमवश कही हैं। अँग्रेजों ने मानो जैसे हमें रेल, डाक, तार आदि की सुविधाएँ दीं वैसे ही हमारे लिए एक नई भाषा भी ईजाद करवा डाली। इस भ्रमात्मक बात का खंडन इसीसे हो जाता है कि जिस समय आगरे के लल्लू जी लाल ने प्रेमसागर की रचना की, उसी समय आरे के सदलमिश्र ने भी उसी भाषा में नासिकेतोपाख्यान का प्रणयन किया। यह कितनी असंभव और अग्राह्य बात है कि एक नई भाषा ईजाद की जाय और उसका जादू एकाएक आगरे से लेकर आरा तक फैल जाय।

ग्रियर्सन के ही आगे के कथन से इस बात का खंडन हो जाता है। उन्होंने लिखा है कि जब प्रेमसागर लिखा गया तब हिन्दुओं ने समझा कि अरे, यह तो वही गद्य की भाषा है जिसे वे बिना जाने जीवन भर बोलते रहे।[21] जब वह पहले से ही मौजूद थी तो फिर उसे नई गढ़ी हुई भाषा कहना कहाँ तक युक्ति संगत है? ग्रियर्सन ने यह भी स्वीकार किया है कि प्रेमसागर की भाषा ऊपरी दोआब की वास्तविक बोलचाल की भाषा की ओर स्वतः प्रवृत्त प्रत्यावर्तन कही जानी चाहिए।[22]

यथार्थ बात तो यह है कि प्रेमसागर की भाषा मूलतः वही थी जो देश के एक ओर से दूसरे छोर तक बहुत पहले से ही जनसाधारण में फैल चुकी थी। उसी का एक विशिष्ट रूप दक्षिण में दक्खिनी के नाम से विकसित हो चुका था। उसी में अरबी-फ़ारसी के शब्दों का मिश्रण होने से उर्दू और रेखता का रूप खड़ा होता था, संस्कृत और देशज शब्दों का प्रयोग होने से 'भाषा' का और यदि दोनों में से किसी का पुट न रहे तो

---

२०. मिलाइए--'When, therefore, Lalluji lal wrote his Premsagar in Hindi, he was inventing an altogether new language", लालचन्द्रिका में ग्रियर्सन की भूमिका।

२१. देखिए वही।

२२. दे० L. S. I., Vol. IX, Pt. I, पृष्ठ वही।

इंशाउल्ला खाँ के अनुसार 'ठेठ हिन्दी' का ।[२३] यह नहीं है कि इस भाषा में लल्लू जी लाल के पहले और अँगरेजों के आश्रय से परे गद्य के ग्रन्थ नहीं लिखे गए हों । अकबर के समय का लिखा हुआ गंग कवि का "चंद-छंद बरनन की महिमा", १७४१ ई० में लिखा हुआ रामप्रसाद निरंजनी का भाषा योगवाशिष्ठ, दौलतराम का पद्मपुराण का अनुवाद (१७६१ ई०), मुंशी सदासुखलाल 'नियाज' (१७९५) और इंशा (१७९२) के ग्रन्थ इस बात के प्रमाण हैं । इसी पहले से चली आती हुई भाषा के एक स्थानीय रूप, के लिए जो दिल्ली-आगरे में प्रचलित थी, लल्लू जी लाल ने खड़ी बोली शब्द का प्रयोग किया गया है ।

इसमें नई ईजाद की हुई कोई बात अगर थी तो यही थी कि दिल्ली-आगरे की प्रचलित खड़ी बोली से 'यामनी भाषा' अथवा फारसी-अरबी के शब्द चुन-चुन करके निकाल बाहर कर दिए गए थे । इसके पहले लल्लूजी लाल रेखते में सिंहासनबत्तीसी, वैतालपचीसी, शकुंतला नाटक और माधवनल—ये चार पुस्तकें लिख चुके थे । अतः उन्हें अरबी-फारसी से आए हुए शब्दों की अच्छी पहचान थी, जिससे उन्हें छोड़ने में उनको पर्याप्त सफलता मिली । फिर भी प्रेमसागर में यदि दो-चार विदेशी शब्द रह गए हैं—तो इसमें लेखक का प्रमाद ही समझना चाहिए, मुस्तैदी की कमी नहीं । इस प्रकार अँग्रेज शासकों को इस भावना के आविष्कार का श्रेय अवश्य ही दिया जाना चाहिए कि हिन्दी वह है जिसमें अरबी-फारसी का कोई भी शब्द न आने पावे[२४] और तदनुसार उर्दू वह है जिसमें अरबी फारसी के शब्दों को छोड़कर और कोई शब्द न घुसने पावे । आगरे के लल्लू जी लाल और आरे के सदलमिश्र को फोर्ट विलियम कालेज में बुलाकर जैसे अरबी-फारसी के प्रचलित विदेशी शब्दों के बहिष्कार का निर्देश दिया गया वैसे ही बागोबहार के लेखक मीर अम्मन और खिरोद अफ़ोज़ के लेखक हफीजुद्दीन अहमद को भी स्वदेशी शब्दों से पूरी तरह परहेज करने की राह बताई गई । इसी प्रकार अँगरेजों की छत्रच्छाया में ही उर्दू गद्य का भी रूप-निर्माण हुआ । ग्रियर्सन ने इसका भी कुछ शान के साथ जिक्र किया है ।[२५] अँगरेजों ने अज्ञानवश या दुर्नीतिवश भाषा के क्षेत्र में भी साम्प्रदायिकता की इस प्रवृत्ति को उत्तेजित करके एक ही भाषा की दो विभिन्न शैलियों के बीच 'हिन्दी और उर्दू' के नाम पर दो पृथक्-पृथक् अखाड़े[२६] कायम करने में पूरी सफलता

---

२३ देखिए—इंशाअल्ला खाँ, उदयभान चरित या रानी केतकी की कहानी ।

२४. *डा० जान गिलक्राइस्ट ने 'खड़ी बोली' के जो उल्लेख किए हैं और उसके सम्बन्ध में* जो कुछ लिखा है (देखिये ऊपर) उससे यह स्पष्ट है अरबी-फारसी के शब्दों की छँटाई पर कितना जोर दिया गया था । उनके विचार से हिन्दी को इस प्रकार विशुद्ध करके ही उसे अँग्रेजी भारत की हिन्दू जनता के विशाल समूह के अनुकूल बनाया जा सकता था ।

२५. दे० L. S. I. Vol. I, Pt. I, 1927, पृ० १६८.

२६. मिलाइए—अकबर—

हम उर्दू को अरबी क्यों न करें, वे हिन्दी को भाषा क्यों न करें ।
मतलब के लिए अखबारों से मजमून तराशा क्यों न करें ।
आपस में अदावत कुछ भी नहीं, लेकिन एक अखाड़ा कायम है ।
जब इससे फलक का दिल बहले, हम लोग तमाशा क्यों न करें ।

पाई। इसके पहले न तो सूर ने कभी सोचा था, न तुलसी ने और न उनके किसी अन्य परवर्ती अनुयायी ने कि अरबी फारसी, या तुर्की के शब्द अस्पृश्य हैं। हिन्दी का अधिक नहीं तो अर्धांश मुसलमानों की देन है और इसी प्रकार उर्दू का एक बहुत बड़ा हिस्सा हिन्दुओं की देन है। खासकर लोक साहित्य के लिए तो हिन्दू और मुसलमान अब तक एक ही भाषा का प्रयोग करते रहे।[२७] पर हिन्दी के लिए मुसलमानों के और उर्दू के लिए देशज शब्द नापाक हैं,[२८] ऐसी जहरीली दुर्भावना का अँग्रेजी इंजेक्शन एक बार जब पड़ चुका तब तो फिर वह भीतर ही भीतर तेजी के साथ अपना असर पैदा करने लगा। प्रेमसागर के प्रकाशन के कोई पचास-साठ वर्षों के बाद ही इस प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति का फल यह हुआ कि अपने ही देश के सर सैयद अहमद और राजा लक्ष्मणसिंह जी जैसे विचारवान् लोग भी सर्वत्र यह घोषणा करने लगे कि हिन्दी और उर्दू दो न्यारी-न्यारी भाषाएँ हैं। हिन्दी हिन्दुओं की भाषा है और उर्दू मुसलमानों की। भाषा के क्षेत्र में इस सम्प्रदायवाद ने, इस कलुषित अवैज्ञानिक भ्रान्त मत ने कैसा आतंक मचाया, यह सबको विदित है। इसकी चर्चा यहाँ अनावश्यक है।

परन्तु इस बात का उल्लेख करना तो आवश्यक है कि कम से कम उस भाषा में जिसे आगरे की खड़ी बोली कहा जाय यह कल्पना नहीं की जा सकती कि अरबी-फारसी-तुर्की आदि का एक भी शब्द न रहे। आगरा तो सदियों से मुस्लिम और भारतीय संस्कृति का संगमस्थल बना हुआ था। दिल्ली से भी पहले आगरे के बाजारों और खीमों में ही खड़ी बोली ने वह मिश्रित रूप ग्रहण किया, जिसमें आगे चलकर उर्दू रेखता का समादृत साहित्य विकसित हुआ। अतः दिल्ली-आगरे की खड़ी बोली में एक भी 'यामनी' शब्द न रहे, यह सर्वथा असंभव, अनैतिहासिक तथा अस्वाभाविक बात है। खास करके आगरे की भाषा-शैली की तो यह विशेषता थी कि वह संस्कृतप्रायता के भार से अपने को बोझिल नहीं बनाती थी और अपनी उदार ग्राहिका शक्ति के द्वारा ऐसे विदेशी शब्दों को भी आत्मसात् कर लेती थी जो देश के सामान्य व्यवहार में स्थान पा चुके थे। इस संबंध में डा० ग्रियर्सन का यह कथन यहाँ उद्धरणीय है :—

"उर्दू और हिन्दी प्रत्येक भारत की दो विशाल धार्मिक शाखाओं में से एक-एक का प्रतिनिधित्व करती है और प्रत्येक के केन्द्रस्थान बहुत दूरी पर अवस्थित हैं। दिल्ली और लखनऊ ये दोनों शहर उर्दू का वास्तविक केन्द्र बनने में एक-दूसरे से बाजी मार लेने का दावा करते हैं। × × × लखनऊ की उर्दू बहुत ज्यादा फारसी के रंग में रँगी रहती है। *इसके विपरीत दिल्ली की उर्दू की भाषा सही माने में ज्यादा हिन्दुस्तानी है।*"

हिन्दी में लेखकों के भी दो वर्ग (स्कूल) हैं—एक आगरे का और दूसरा काशी का। काशी का हिन्दी गद्य साहित्यिक बँगला के समान कृत्रिम है। सरल भाषा के व्यवहार से

२७. दे० F. S. Growse, Some Objections to the modern style of Official Hindustani (राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द के 'हिन्दी व्याकरण (लखनऊ, १८७५ ई०) के अन्तिम आवरण पृष्ठ पर।)

२८. दे० L. S. I., Vol. I, Pt. I 1927, पृ० १६६.

यथासंभव परहेज करने में और प्राय: पूर्ण रूप से संस्कृत की तत्सम शब्दावली को अंगीकार करने में यह लखनऊ की उर्दू का मुकाबला करता है। फारसी से आए हुए शब्दों के समान ही देशज शब्दों का भी इसमें बड़ी कड़ाई के साथ बहिष्कार किया जाता है। इसके विपरीत आगरे की शाखा न केवल संस्कृतप्रायता से बहुत अधिक मुक्त है वरन् ऐसे विदेशी शब्दों को भी अपनाने में अधिक उदारता से काम लेती है जो देश के सामान्य शब्द-भंडार में सम्मिलित हो चुके हैं।[२९] परन्तु अँगरेजों के निर्देशवश लल्लू जी लाल के तद्विषयक प्रयास के कारण प्रेमसागर की भाषा कम से कम इस सम्बन्ध में आगरे की खड़ी बोली के आदर्श से निस्सन्देह दूर जा पड़ी है और कुछ अंशों में कृत्रिम हो गई है।

उसकी कृत्रिमता का एक दूसरा कारण है—उसकी काव्यात्मकता। एक तो अभी गद्य-शैली की प्रारंभिक अवस्था, दूसरे ब्रजभाषा से अनुवाद, तीसरे दरबारी शैली की तुकबाजी तथा सजावट का असर—इन सबका सम्मिलित रंग प्रेमसागर की भाषा में उभर आया, तो आश्चर्य ही क्या ?

परन्तु इन दो बातों को छोड़कर और सभी दृष्टियों से प्रेमसागर की भाषा में दिल्ली-आगरे की और सच पूछें तो दिल्ली से भी बढ़कर आगरे की जीवित खड़ी बोली का स्वरूप ही शत प्रतिशत प्रदर्शित हुआ है। लल्लू जी लाल आगरे के ही निवासी थे। उनके प्रेमसागर की खड़ी बोली उनकी अपनी और उनके आगरे की बोलचाल की भाषा थी—तब भी थी और अब भी है। इसका जोरदार समर्थन करते हुए एक दूसरे आगरा-निवासी स्व० श्री बदरीनाथ भट्ट जो लखनऊ विश्वविद्यालय में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष थे और जिन्हें कम से कम अपनी भाषा की पहचान जरूर थी, लिखते हैं:—

"जिस भाषा में लल्लू जी लाल पुस्तकें लिख गए है, वह आज भी आगरे में हमारे घरों में बोली जाती है। जिस मोहल्ले में लल्लू जी लाल ने जन्म लिया था वही इस लेखक की जन्मभूमि है। जिन गलियों और सड़कों पर लल्लूजीलाल खेले थे उन पर इसे भी खेलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। अधिक क्या कहा जाय, जिस तालाब में वह तैरना सीखे थे (कि जिसके कारण पीछे उनका भाग्य चमका) उसी तालाब में (हालाँ कि वह अब पक्का बन गया है) तैरना सीखने की इच्छा से इसने भी हाथ-पैर फटफटाए हैं, यद्यपि तैरना अब तक न आया। लल्लूजीलाल का घर इसके झोंपड़े से बीस कदम की दूरी पर भी न था। उस मोहल्ले में ही नहीं सारे आगरे में देखिए आपको प्रत्येक हिन्दू-घर में 'प्रेमसागर' की सी भाषा सुनाई देगी। जो थोड़ा-सा भेद दीखेगा वह वही होगा जिसका लिखने और बोलने की भाषा में होना स्वाभाविक है। क्या लल्लूजीलाल के 'प्रेमसागर' लिखने से ही वह भाषा आगरे में घर-घर की बोली हो गई ?"[३०]

---

२९. G. A. Grierson, L. S. I., Vol. IX—Pt. I., 1916, पृ० ४८

३०. बदरीनाथ भट्ट—'हिन्दी', लखनऊ, १९८१ वि० सं०, पृ० ३१

इससे यह स्पष्ट है कि लल्लू जी लाल की खड़ी बोली न तो कोई गढ़ी हुई भाषा है और न गँवारी बोली है। वह जैसे मेरठ की बोली है, दिल्ली की बोली है वैसे ही आगरे नगर की भी बोली है।[३१] जैसे मेरठ, बिजनौर और दिल्ली की खड़ी बोली में स्थानीय विशेषताएँ पाई जाती हैं वैसे ही आगरे की खड़ी बोली की भी अपनी विशेषताएँ हों तो यह सर्वथा स्वाभाविक है।

लल्लू जी लाल की भाषा को ब्रजरंजित खड़ीबोली कहा गया है[३२] और इसका कारण यह बताया गया है कि प्रेमसागर चतुर्भुज मिश्र के ब्रजभाषा में लिखित मूलग्रन्थ का अनुवाद था। और लल्लू जी लाल स्वयं ब्रजप्रदेश के निवासी थे।[३३] परन्तु वस्तुतः इसका मुख्य कारण तो यह है कि आगरे की खड़ी बोली में उसकी भौगोलिक स्थिति के कारण उस समय भी ब्रजभाषा के मिश्रण पाए जाते थे और अब भी पाए जाते हैं। लल्लू जी ने एक ही साथ कहीं 'समझाय', 'बुझाय', 'गिड़गिड़ाय' आदि रूपों का प्रयोग किया है तो कहीं 'बुझाकर', 'गिड़गिड़ाकर' आदि रूपों का भी। कहीं 'पावैगा' है तो कहीं कहीं 'पावेगा'। कहीं 'दीजो' 'कीजो' है तो कहीं 'दीजिये' 'कीजिये' भी। कहीं 'लाय दी', 'करन लागे' हैं, तो कहीं 'ला दी', 'करने लगे' जैसे रूप भी। इस प्रकार की दोलायमान प्रवृत्ति आगरे की खड़ी बोली में आज भी पाई जाती है। बोलचाल की किसी भी जीवित भाषा के लिए इस प्रकार का दोलन या दोरुखी प्रयोग स्वाभाविक है, खासकर वहां जहां दो भाषाओं या बोलियों की सीमाएँ परस्पर मिल रही हों अथवा जनसाधारण के भाषागत व्यवहार में द्विभाषी झुकाव हो। आगरे की खड़ी बोली में आज भी यह प्रवृत्ति पाई जाती है, हालाँकि अब परिनिष्ठित हिन्दी के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण ब्रजभाषा प्राय रूपों का व्यवहार कम होने लगा है।

लल्लू जी लाल की भाषा में तद्भव रूपों की जो प्रधानता है, वह भी इस बात का प्रमाण है कि वह आगरे की बोलचाल की ही भाषा है। उन्होंने संस्कृत के भारी भरकम संस्कृत शब्दों के मोह को छोड़कर पृथ्वी के स्थान पिरथी, अन्तर्यामी के स्थान पर अनतरजामी, पक्षी के स्थान पर पंछी, हृदय के स्थान पर हृदे, समै, दरसन, निरधन, चरन, प्रनाम, औसर, देस, जस, रुक्मिनी, हिरनकस्यप, हरिनाकुस आदि जनसाधारण की बोल-चाल में प्रचलित रूपों का ही व्यवहार किया है। आगरे की खड़ी बोली में आज भी ऐसे ही रूपों का प्रचलन पाया जाता है। रोजमर्रे की बातचीत में प्रयुक्त देशज शब्दों की ओर लल्लू लाल की भाषा के रुझान को देखकर ही राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने लिखा था कि लल्लू जी लाल ने आगरे की खड़ीबोली से यद्यपि फारसी और अरबी के शब्दों को तो निकाल बाहर किया फिर भी वे आगरे के गाँवों के शब्दों को अलग नहीं कर सके।

---

३१. इस बात को डा० श्यामसुन्दर दास ने भी स्वीकार किया है। दे० हिन्दी भाषा, प्रयाग, १९५४, पृ० ४८।

३२. दे० रामचंद्र शुक्ल, हिन्दी-साहित्य का इतिहास, काशी, २००९, पृ० ४२०।

३३. दे० ,, ,, वक्तव्य, प्रेमसागर, काशी, १९७९, पृ० ३।

राजा शिवप्रसाद ने जिन्हें गाँवों के शब्द कहा है, वे वस्तुत: गाँवों के नहीं, आगरा शहर के ही प्रचलित शब्द थे। वे जनसाधारण द्वारा व्यवहृत स्थानीय खड़ीबोली के बोलचाल के शब्द थे। ऐसे ही शब्दों का प्रयोग आगरे के एक दूसरे ख्यातनामा साहित्यकार नजीर अकबराबादी ने भी अपनी रचनाओं में किया है। नजीर लल्लू जी लाल के समसामयिक थे। उमर में वे लल्लू जी लाल से कोई अट्ठाईस वर्ष बड़े थे। अपनी नज़्मों में लल्लू जी लाल के समान ही उन्होंने भी दिल्ली-आगरे की खड़ी बोली का ही प्रयोग किया है। खास कर आगरे की बोली तो उनकी रचनाओं में अपनी पूरी छवि और माधुर्य के साथ रागबद्ध हुई है। अपनी इस खूबी के कारण वे कवियों और शायरों के बादशाह माने गए हैं। फ़ैलन ने तो लिखा है कि वास्तविक कविता के योरोपीय स्टैंडर्ड के अनुसार नजीर ही एकमात्र हिन्दुस्तानी कवि कहे जा सकते हैं। आधुनिक भाषा में वही एक कवि है, जिसकी रचनाएँ जनता की जबान पर और उनके दिलों में जा पहुँची है। उसके अपने शहर (आगरे) में उसकी नज़्में डगर-डगर मे, गली-गली में पढ़कर सुनाई जाती हैं और गाई जाती हैं।[३४]

नजीर की भाषा और लल्लू जी लाल की भाषा की तुलना की जाय तो उनमें बहुत कुछ समानताएँ पाई जायँगी, हालाँकि एक ने गद्य में लिखा, दूसरे ने पद्य में। एक हिन्दू था और दूसरा मुसलमान। एक ने अँगरेजों की छत्रच्छाया में उनके निर्देशानुसार 'यामनी' शब्दों को त्याज्य मानकर लिखा है और दूसरे ने सच्चे लोककवि के रूप में हिन्दू मुसलमानों दोनों का प्रतिनिधित्व करते हुए जन-समाज में प्रचलित खड़ी बोली के समस्त शब्द-भंडार का स्वच्छन्द उपयोग करते हुए स्वतन्त्र रूप से लिखा है। लल्लू जी लाल की भाषा में जैसे ब्रजभाषा के प्रयोग मिलते हैं, वैसे ही नजीर की भाषा में भी 'बाजत हैं,' बनाय, नचाय, लाय, पाछे, देवे जैसे कई 'ब्रजरंजित' प्रयोग मिलते हैं। दोनों की ही भाषा में तद्भव रूपों का आधिपत्य है। महामना पंडितों और मौलवियों के कठिन और दुर्बोध शब्दों के भार से भाषा को निष्प्राण कर देने का प्रयास उन्होंने नहीं किया है। उनकी खड़ी बोली में आगरे की बोलचाल की सीधी-सादी भाषा का ही वैभव निखरा है।

भाषा के ऐसे ही जनसम्मत आडम्बरहीन सजीव रूप को लक्ष्य करके इंशाअल्ला-खाँ ने बिना किसी मिलावट की[३५] हिन्दी लिखने की ठानी थी। उसमें किसी गँवारी भाषा का भ्रम तो नहीं खड़ा किया जा सकता। न तो इंशा ने, न नजीर ने और न लल्लू जी लाल

३४. दे० S. W. Fallon—A New Hindustani Dictionary, 1879—Preface.

३५. अमीर खुसरो ने भी हिंदी के विषय में लिखा है कि वह अरबी के समान निर्विकार भाषा है और उसमें भी मिलावट का स्थान नहीं है।

ने गँवारी भाषा में[३६] साहित्य-रचना की थी। उनकी भाषा दिल्ली-आगरे की चलती खड़ी बोली थी, जिसके रूप के विषय में इंशा के शब्दों में कहा जा सकता है --"जैसे भले लोग अच्छों से अच्छे आपस में बोलते-चालते हैं।"[३७]

लल्लू जी लाल और नजीर की भाषा में जो लक्षण पाये जाते हैं अब भी प्रायः उन लक्षणों से समन्वित खड़ी बोली आगरा शहर में सामान्य बोलचाल की सहज भाषा है। साक्षर-निरक्षर, शिक्षित-अशिक्षित, स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध सभी रोजमर्रे की साधारण बात-चीत में उसका व्यवहार करते हैं। यह ठीक है कि शहर में ब्रजभाषा-भाषियों की भी खासी अच्छी संख्या है। पर जिन परिवारों में ब्रजभाषा बोली जाती है, उनमें भी लोग बाहर के व्यावहारिक क्षेत्र में खड़ी बोली का ही प्रयोग करते हैं। इस द्विभाषा भाषिता (Bilingualism) का आधार स्कूल-पाठशालाओं की शिक्षा ही हो, ऐसी बात नहीं है। आगरे शहर में ऐसे बहुसंख्यक परिवार हैं, जिनमें घर-बाहर सर्वत्र और सर्वदा खड़ी बोली का ही व्यवहार होता है। गोकुलपुरा मुहल्ले के ठठेरे और कारीगर, बेलनगंज के लाला और बनिये, ताजगंज के मूर्तिकार, हलवाई भड़भूँजे, कोतवाली के अन्तर्गत सेवका बाजार, किनारी बाजार आदि अनेक मुहल्लों के निवासी, बूटेवाले, पेठेवाले, खोमचेवाले सब खड़ी बोली का ही व्यवहार करते हैं। नाई, रिक्शेवाले और ताँगेवाले भी खड़ी बोली ही बोलते हैं। मुस्लिम घरों में तो (शहर ही में नहीं, प्रायः गावों में भी) निरपवाद रूप से खड़ी बोली व्यवहृत होती है। शहर के प्रायः सभी मुहल्लों के मेहतर भी (स्त्री-पुरुष, बच्चे-बूढ़े सभी—इनकी संख्या आगरा शहर में कम नहीं है) खड़ी बोली ही बोलते हैं। ब्रज के चौबे लोगों को छोड़कर अन्य ब्राह्मण घरों में भी प्रायः खड़ी बोली ही बोली जाती है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, मेरठ, बिजनौर सहारनपुर आदि की खड़ी बोली के जैसे स्थानीय भेदों के अनुसार अपने-अपने विशिष्ट लक्षण हैं, वैसे ही आगरे की खड़ी बोली के भी कुछ विशिष्ट स्थानीय लक्षण हैं। लल्लू जी लाल ने प्रेमसागर में जैसे तिससे, तिनके, तिन्हें, विसने, विसके, विन्हें, तिसी, कै (या के अर्थ में), देखि, बैठि, समै, औसर, सुनौ, कहौ, आवगा, करन लागै आदि, अथवा नजीर ने जैसे याँ, वाँ, याँसे, वाँसे, उड़े हैं, बैठे हैं, जानियो, मानियो, शह्‌र, नह्‌र, वोही (वही के लिए), बाजत है आदि रूपों के प्रयोग किए हैं अथवा आगरे के पं० रतनलाल (१८३९ ई०) ने अपने 'कथासार' में जैसे 'किया', 'की' आदि के स्थान में करा, करी आदि रूप दिए हैं वैसे ही बहुतेरे रूप अब भी यहाँ की बोलचाल की खड़ी बोली में व्यवहृत हैं। मेरठ की खड़ी बोली में, कूँ, है, के स्थान में प्रायः 'है' का प्रयोग होता है। वैसे ही आगरे की खड़ी बोली में कई वक्ताओं द्वारा महाप्राणत्व का बिल्कुल

---

३६. दे०—अमीर खुसरो, खिज्रनामः का अंश (श्यामसुन्दरदास-हिन्दी भाषा, प्रयाग १९५४ ई०, पृष्ठ ९१-९२ में उद्धृत।) भ्रान्तिवश उर्दू के कई समलोचकों ने नजीर को अशिष्ट और गँवारी भाषा का ही शायर समझकर उपेक्षा के भाव से देखा है।

३७. सैय्यद, इंशाअल्लाखाँ (सं० श्यामसुन्दरदास) 'रानी केतकी की कहानी', काशी, वि० सं० २००९, पृ० २.

लोप करके 'ऐ' की ध्वनि का प्रयोग होता है। उसमें सन्धियों और अनेकानेक अन्य व्याकरणिक रूपों के भी रोचक दृष्टान्त मिलते हैं,[३८] जिनका भाषा के विकास तथा आधुनिक भाषा-विज्ञान की दृष्टि से अनल्प महत्त्व है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आगरा हिन्दी का एक प्रधान केन्द्र रहा है, उसकी भाषा-शैली की एक विशेषता रही है, जिसे हम हिन्दी का वास्तविक अनावृत निराडंबर ठेठ रूप कह सकते हैं उसकी बोलचाल की खड़ी बोली के कुछ विशिष्ट लक्षण, कुछ विशेष प्रवृत्तियाँ रही हैं। यही नहीं, उन्नीसवीं तथा प्रारम्भिक बीसवीं शताब्दी में आगरा हिन्दी ग्रन्थों के प्रणयन और प्रकाशन का एक मुख्य केन्द्र था। इस प्रकार हिन्दी के विकास में यहाँ की बोलचाल की भाषा तथा उसके साहित्य का उच्च स्थान है।

प्रसन्नता की बात है कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत हिन्दी के विकास के संबंध में जो कार्यक्रम स्वीकृत हुआ है, उसके सिलसिले में केन्द्रीय सरकार के शिक्षा-मंत्रणालय ने संभवतः दिल्ली और मेरठ की खड़ी बोली का सर्वेक्षण कराने का निर्णय किया है। परन्तु सच तो यह है कि खड़ी बोली का कोई भी सर्वेक्षण तब तक अधूरा ही कहा जायगा जब तक उसके अन्तर्गत आगरे को भी शामिल न किया जाय।[३९]

---

३८. हमारे प्रसिद्ध कथाकार श्री अमृतलाल नागर ने अपने उपन्यास 'सेठ बाँकेमल' में आगरे की बोलचाल की खड़ी बोली के बड़े सजीव और मजेदार नमूने दिए हैं। उदाहरणार्थ दे०—उनकी 'साज्हाँ' बास्साय ने कलेजा कूटा' शीर्षक अंश (शिवदानसिंह चौहान, रामगोपालसिंह चौहान, 'ताज की छाया' आगरा, १९५७ ई०, पृष्ठ –४)

३९. सन्तोष की बात है कि हमारे दो विद्यार्थी श्री मुरारीलाल उप्रैती, एम० ए० और श्री मोहनलाल शर्मा, एम० ए० बड़ी लगन के साथ आगरा शहर की खड़ी बोली तथा अन्य बोलियों का एक स्वरूपाश्रित सर्वेक्षण कर रहे हैं। उन्होंने आगरे के प्रत्येक मुहल्ले से तथा जनवर्ग के सभी स्तरों से वास्तविक बोलचाल की भाषा के सैकड़ों नमूने लिए हैं और अब उनका विश्लेषण कर रहे हैं। उनके निष्कर्ष हमारे सामने आयेंगे तो यहाँ के भाषा-विषयक अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यों पर प्रकाश पड़ेगा।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि आगरे जिले की बोली के विषय में प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी, एम०ए०, भी अनुसन्धान कर रहे हैं, जिससे इस समस्त जिले में बोली जाने वाली व्रजभाषा के स्वरूप के सम्बन्ध में हमारा विशेष ज्ञानवर्द्धन होगा।

डा० सत्येन्द्र

ब्रज लोक-साहित्य में रामकथा

राम का अस्तित्व भले ही ऐतिहासिक हो, उनकी कथा लोक-साहित्य में खड़ी हुई और बढ़ी। वहीं से उसने अपने हाड़-मांस बटोरे। वैदिक युग में इसी कारण उसे 'लौकिक' काव्य कहा गया।

साहित्य मनीषियों ने उसे लेकर उसे अपनी प्रतिभा और कल्पना से भली प्रकार समृद्ध किया किन्तु उसकी लौकिक धारा भी प्रवाहित रही।

आज भी वह लोक में प्रचलित है और विविध प्रकार के गीतों में वह लोक-कण्ठों से निसृत होती रहती है। इसी व्यापकता के कारण 'रामकथा' के उल्लेख के लोक-साहित्य में चार प्रकार मिलते हैं :—

१—यथार्थ रामवृत्त या वृत्तांश।

२—राम-वृत्त से सम्बन्धित वृत्त।

३ —अन्य प्रसंगों में गर्भित राम वृत्त।

४—राम अथवा राम-परिकर का नाम-मात्र के लिए उल्लेख : सांकेतिक उल्लेख।

मात्र नामोल्लेख विषयक वर्ग में वे गीत आते हैं जिनमें राम और उनके परिकर का नाम केवल सुविधा के लिए ही रहता है; गीत का विषय राम और लक्ष्मण के वृत्त को महत्व नहीं देता। विवाह अथवा अन्य किसी संस्कार का वर्णन करने में लोकगीत को किसी न किसी व्यक्ति के नाम का सहारा लेना पड़ता है। यह व्यक्ति या तो स्वयं गायक के अपने वारपरि का हो सकता है या फिर उसके नाम की बजाय 'राम-परिकर' के नाम का उपयोग किया जा सकता है। विवाह के गीत में दुलहे की जगह राम और दुलहिन की जगह सीता को रख देने से संस्कारी कार्यों में नाम के सहारे का काम भी हो जाता है, इसके साथ ही कृत्यों में धार्मिक गौरव की भावना भी सन्तुष्ट हो जाती है और यज्ञ में रूपक प्रणाली की जिस आवश्यकता को स्वीकार किया गया था, लोक-प्रवृत्ति अपनी शैली से उसका भी अनुसरण कर लेती है। वर=राम और वरनी=सीता: इस समीकरण से विवाह में यज्ञ का पावन भाव अपनी परिपूर्णता भी ग्रहण कर लेता है।

नीचे जो गीत दिये जा रहे हैं उनसे नामोल्लेख विषयक वर्ग के गीतों का स्वरूप स्पष्ट हो जायगा :—

(१)

जुरयौ रथु राम जी कौ यामें[1] सीया बैठी जाय । टेक ।।
एकु रथु तौ याकी[1] मामी नें सजायौ, प्यारे भैयानें जोरे दोनूं बैल ।
जुर्‌यौ रथु राम जी कौ यामें[1] सीया बैठी जाय ।
एकु रथु तौ याकी[1] चाची को सजायौ चाचा नें जोरे दोनूं बैल ।
जुर्‌यौ रथु राम जी कौ यामें[1] सीया बैठी जाय ।

[सं० क० जोतीराम यादव : पसौली ब० सा० मं० के संग्रह से]

(२)

तेलिन बिटिया तेल मेरौ राम चमेली कौ तेल ऐ
बहू सीता तेल चढ़ाईऐ बेटी रामेश्वरो तेल चढ़ाइऐ
घरई लछिमन जी बाबइयाँ, बहू उर्मिला तेल चढ़ाइऐ ।
तेलिन बिटिया तेल मेरौ राम चमेली कौ तेल ऐ
(भैया बहन का नाम) तेल चढ़ाइऐ ।

इन गीतों में राम-सीता का उल्लेख नाम मात्र के लिए है। इसमें रामकथा अभिप्रेत नहीं। ऐसे गीतों में ही वे गीत सम्मिलित किये जायँगे जिनमें रामवृत्त का कोई अंश केवल टेक अथवा सहारे के लिए ले लिया गया हो। भाँवरों पर गाये जाने वाले गीत में मुख्य वस्तु तो भाँवरों के संस्कार और उसके समय पर की गयी तैयारियों का उल्लेख करना है जैसे :—

गोबर से आँगन लीपकर, चौक पूरा गया है। चौक मोतियों का पूरा गया है। अमृतजल से परिपूर्ण मंगलघट स्थापित है और चम्पे की शाखा लगा दी गयी है। ऐंपन से गहगहा चित्रण हुआ है। साठी से अक्षत डाले गये हैं। कजरीबन के कदली-स्तम्भ द्वार पर आरोपित हैं। स्थान स्थान पर दीप-दान से दीपावली जगमगा रही है। ऐसे मंडप में दूलह-दुलहिन की भामरें हो रही हैं। सखियाँ मंगल गा रही हैं, पंडित वेदोच्चार कर रहे हैं। अत्यन्त निर्मल वातावरण है। सभी कार्य शुभ शकुन देखकर हो रहे हैं।

---

१. पाठान्तर : जाये

इस गीत की यह मूल वस्तु है। इसका राम-सीता से ही कोई सम्बन्ध हो, यह नहीं माना जा सकता। राम-सीता यदि इसमें दूलह-दुलहिन का नाम भर का काम दें तो यह गीत ऊपर के गीत के ही समकक्ष रहेगा किन्तु लोकमानस ने इसमें राम-वृत्ति विषयक एक घटना का विशेष सहारा लिया है जिसे गीत की टेक बना दिया है:—

धनष कैसें तोरौगे हरि बारे।

धनुष तोड़ने की घटना का सम्बन्ध रामवृत्त से है इसे गीत का सहारा या टेक बनाकर यह गीत यों आगे बढ़ता है:—

(३)

धनुष कैसे तोरौगे हरिबारे
हरे हरे गोबर अँगन लिपाए, मोतिन चौक पुराए,
कूम कलस इमिरित भरि लाए, चम्पे की डारि झकोरि
आज मेरी सीता ऐ रघुबर ब्याहन आये।
ऐंपनु घोरि इहाँ गहि मारौ, साही के आखत चावल डारौ
आज मेरी सीता ऐ रघुनन्दन ब्याहन आए।
कजरी बन के खंभ मँगाए, गाढ़ें सीग्र दुआरे
आज मेरी सीता ऐ रघुबर ब्याहन आये।
खम्भन खम्भन दिवला जोरे, जगमग जोति सवाई
आज मेरी सीता ऐ रघुबर ब्याहन आए।
सीता सिरीपति फिरत भँमरियाँ सखियन मंगल गाए
आज मेरी सीता ऐ रघुबर ब्याहन आए।
पंडित वेद पढ़ें अति निरमल, अच्छे अच्छे सगुन विचारे
आज मेरी सीता ऐ रघुबर ब्याहन आए।

ऐसे गीत अधिकांशतः लोक-संस्कार विषयक होते हैं। संस्कारी गीतों में लोकमानस की तीन प्रवृत्तियाँ मिलती हैं:—

अ—विनोद की।

आ—विवरण की।

ई—टोने की।

अभी तक हम जिस वर्ग के गीतों की चर्चा कर रहे थे वे प्रायः सभी संस्कारों से सम्बन्धित हैं और उनमें विवरणात्मक प्रवृत्ति काम कर रही है। लोक-मानस विवरणक-

प्रवृत्ति से एक काम तो यह लेता है कि वह गीत संस्कार की समस्त विधियों का क्रम से उल्लेख करके तद्विषयक स्मृति के जागरण में सहायक हो सके। यह विवरणक-प्रवृत्ति बहुधा उन्हीं अनुष्ठानों के गीतों में मिलती है जिनका संपादन लोक-रीति से स्त्रियों द्वारा ही बहुधा होता है, जिनके कराने के लिए पुरोहित अथवा पण्डित की आवश्यकता नहीं होती। ऐसे अनुष्ठानों में ये गीत उस अनुष्ठान की विधि प्रस्तुत करते हैं, जिनके सहारे स्त्रियाँ उन अनुष्ठानों का सम्पादन कर सकती हैं। दूसरा काम उन अनुष्ठानों को राग-रंजित करने का है। ऐसे ही गीतों में राम-सीता और उनके परिकर के नाम मात्र उल्लेख के लिए आते हैं।

राम विषयक गीतों में कुछ ऐसे भी गीत हैं जिनमें टोने का भाव निहित है। इन गीतों का गाना अनिवार्य है, गाने से मंगल का भाव उत्पन्न होता है, न गाने से अमंगल की आशंका। बालक के जन्म के अवसर पर 'बह' अथवा 'बैं' के गीत गाये जाते हैं। इन गीतों का अनुष्ठानिक महत्व है और गीत को देखकर यह कहा जा सकता है कि उसमें 'विवरणक' तत्त्व नहीं; 'बह' अथवा 'बैं' की मानता का भाव है। ऐसे गीत के शब्दों में तो उतनी नहीं जितनी उसके भाव में 'बह' की स्तुति ही होती है। इस स्तुति का आन्तरिक भाव उसी टोने से सम्बन्धित है जिसकी मंगल-कामना के लिए आवश्यकता है। यदि 'बह' का ऐसा स्तवन नहीं किया गया तो यह आशंका भी है कि प्रजनन क्रिया पर कुछ अशुभ प्रभाव पड़ सकता है :—

(४)

'तुम खोलौ जसरथ फाटका, तिहारी बह ठाढ़ी ऐ द्वार, हिरनी जो चरै।
बह रीती जाउ कुम्हार कें, भरिअ हमारें आउ, हिरनी जौ चरै।।'

यह स्पष्ट है कि इसमें 'जसरथ' का उपयोग केवल नाम के लिए हुआ है। गीत गाने वाली जसरथ और राम का नाम 'मंगलाचरण' की भाँति लेकर फिर इनके स्थान पर उस स्त्री के पति का नाम लेकर भी गीत दुहराती हैं।

किन्तु 'टोने' के भाव से अभिमण्डित 'राम' विषयक जो गीत नीचे दिया जा रहा है उसमें रामकथा विषयक अंश नाम-मात्र के लिए नहीं दिया गया। वह तो गीत के कथासूत्र का अनिवार्य अंग है :—

(५)

चौकी पै बैठे राजा दशरथ अए, नीचें कौसिला।
राजे, हमें ओ संपति की ऐ साध, संपति फलु देउ, कुमरु तुम्हारें होइ।।
बोलौ अजुध्या के पण्डिता, हाल चले आमें, तुरत चले आमें।
साटी के आछत डारौ, कुँमरु मेरें होइ, लाल तुम्हारें होइ।
चिट्ठी तौ होइ जाए बाँचि सुनाऊँ, करमु मो पै नाँ बँचै।

कूआ रे होइ जाइ पाटूँ, सँमुद मोपै ना पटै ॥
बोलौ अजुध्या के माली, हाल चले आँमें, तुरत चले आँमें ॥
राजे, जँनम-घुटी दै जाउ, औखदि बतलाऔ, दबा बतलाऔ न र ।
पहलें तौ पीई ए कौसिल्या, पीछें सुमित्रा,
सिल धोइ पीई ए केकइया, तीनों गरभ सूं न रे ।
कौसिल्या कें भए राजा राम, सुमित्रा कें लछिमन,
केकई के चरत-भरत दोनों भए तौ चारि कुँमरि भए ॥
तौ बाजत तबल निसान, गमँन लागे सोइले,
राजा दशरथ थैली लुटाइ, गौअन दान कराइए ।
भीतर ते बोली केकइया, राजा थोरी-थोरी द्रब्ब लुटाऔ,
जे लाला बन कूं :ो जाँइगे ।
ऐसे बोल मति बोलै केकइया, धुरि रहे तबल निसान ॥

इस गीत में दशरथ कौशल्या के वार्तालाप का, पुत्र पाने के प्रयत्न का और अन्त में पुत्र-जन्म का उल्लेख है । संतान की कामना से पण्डित से पूछा गया । पण्डित ने स्पष्ट कह दिया कि विधाता ने भाग्य में सन्तान नहीं लिखी । तब अयोध्या के माली ने जन्म घुटी या औषध दी । उससे कौशल्या के राम हुए, सुमित्रा के लक्ष्मण और कैकेयी के चरत-भरत । इस आनन्द में राजा ने द्रव्य लुटाना आरम्भ किया तो कैकेयी ने कहा—राजा ये बालक तो बन को जायँगे इतना आनन्द क्यों मनाते हो ?

इसी प्रकार नीचे के गीतों में नाम मात्र के लिए राम-परिकर का उल्लेख हुआ है । कथा-सूत्र से उनका सम्बन्ध नहीं, साथ ही यह भी स्पष्ट है कि इन गीतों में भी टोने का भाव लगा हुआ है । नीचे दिये हुए दोनों गीत 'छठी' से सम्बन्धित है । लापसी वाला गीत अत्यन्त वीभत्स है उसकी वीभत्सता तब अत्यन्त आघात पहुंचाती है जब हम उसे लक्ष्मण आदि से सम्बन्धित देखते हैं । फिर भी ये गीत अनिवार्यत: गाया जाता है । इससे सिद्ध होता है कि इस गीत में टोने का भाव अन्य गीतों से विशेष है ।

(६)

धतूरौ, माँचनों रे लाल ।

कोनों बोयौ, कोनें जोत्यौ, कौनें डारयौ ऐ बीज, धतूरो मांचनों रे लाल ॥
भरत लाल नें जोत्यौ, लछिमन नें जोत्यौ, राम नें डारयो ऐ बीजु ।
धतूरो माँचनों रे लाल ॥

कौनें घोंट्यौ, कौनें छान्यौ, कौनें भरि लियौ घूंट ।
सुरति-कीरति नें घोंट्यौ, उरमिला नें छान्यो, सीता नें भरि लीयौ घूंट ।।
धतूरौ माँचनौं रे लाल ।।

(७)

मन गुरु, मन गुरु, द्वै मन मैदा, करउ कोसल्या लापसी ।
सब गुरु सब गुरु धर्यौ ऐ उठाइ तो निपट अलोंनी लंगर लापसी ।।
जेतौ री जेतौ री दारी सुमित्रा के काम, केकई बिचारी कहा करै ।
चूल्हे पाछें चूल्हे पाछें धर्यौ ऐ खड़ेरा लछिमनु जानें मोकूं लापसी ।।
सरपट सरपट लाला भरि लीयौ गालु, हबकत डोलें सारे देस में ।
आँगन आँगन भेसि को चोथ नंनदुलि जानी मोकूं सिग धरी ।।
सरपट सरपट लाली भरि लीयौ गालु, थूकि भरी सब री देहरी ।
तेरी, तौ तेरी, खड़ेरा बोलूं जाति निकरि हलक ते बाहिरौ ।।
तेरी तौ तेरी बोलूं चोय जाति निकरि हलक ते बाहिरौ ।

नाम मात्र उल्लेख वाले कुछ गीत यहां दिये जाते हैं :—

(८)

राँम आए अजुध्या अनंद भए अनंद भए माई सुख चेंन भए ।
माई, राजा जसरत के चारि बेटा भए चारों घूमें अजुध्या, अनंद भए ।
माई, राजा जसरत के चारि हाती भए, चारों ठाड़े दरवाजे, अनंद भए ।
राजा जसरत कें चारि बहुअलि भए, चारों तपें रसोई, अनंद भए ।
राजा जसरत कें चारि बेटी हुए, चारयों लाईं बधाई, अनंद भए ।
माई, राजा जसरत के चारि नाँती हुए चारों खेले आँगनवाँ, अनंद भए ।

(९)

चितरसारी में रामचन्द्र पौढ़िऐ इनकी चंद बदन सुख सेज ।
धनउ नबै कछु साहिब नबै, सिढ़ियनि में भगिनी अड़ि रही ।।
भाभी जे बटुआ हमें देउ, धंनउ नबै कछु साहिब ऊ नबै ।
लाली, जे बटुआ मेरे बाप कौ, तिहारे बिरंन गढ़ायौ सोई लेउ ।।
चितरसारी में लछिमन पौढ़िए, इनकी चन्द-बदन-सुख-सेज ।
धनउं नबै कछु साहिबउ नबै, सिढ़ियन में भगिनी अड़ि रही ।।

भाभी जे बटुआ हमें देउ, धनउं नबै, कछू साहिबु नबै ।
लाजी जे बटुआ मेरे बाप कौ, तिहारे बिरन गढ़ायौ सोई लेउ ।

(१०)

बरद भरी मेंहदी फिरै, ए कोई मेंहदी ऐ लेइ, मेंहदी रांचनी ।
लिग्गे हमारे रामचन्द्र से भोगिया जिनकी सीताजी ऐं जोगु, मेंहदी रांचनी ।
जरत भरत से भोगिया, जिनकी माता ऐ जोगु, मेंहदी रांचनी ।।

(११)

जसरत के चारों लाल दिन दिन नीको लगै ।
कोंन कें बाजें ढ़ोलक मँजीरा, कौंन कें धुरत निसान ।।
केकई कें बाजें ढोलक मँजीरा, कौसल्या कें घुरत निसान ।
कौंन नें बाँटे बीरा-बतासे, कौसल्सा नें नागर-पान ।। दिन दिन०
केकई नें पूजे कुआ-बावरी, कौसल्या ने सागर-ताल । दिन दिन नीकौ०
केकई कें बाजें नौबत-नगारे कौसल्या कें घुरत निसान ।।
दिन दिन नीकौं लागे ।

(१२)

बीर, कहां हर की तू मालिनीं ऐ और सेहरौ किस घर जाइ री ?
भेंनि बन्यौ री कुँमर कौ सेहरौ ।।
बीर, अजुध्या की हम मालिनीएँ, और सेहरौ रजन-घर जाइ ।
री बैहनि, बन्यौ री कुँमर कौ सेहरौ ।।
बीर कोंन रजन की मालिनी, और सेहरौ कौन कू जाइ ?
री बैहनि, बन्यौ एं कुँमर कौ सेहरौ ।।
लाला, जसरत की हम मालिनीं, और सेहरौ उन घर जाइ ।
री बैहनि, बन्यौरी कुँमर कौ सेहरौ ।।
लाला, बाबा के नाती सिरी चढ़ै, जसरत को बेटा सिरी चढ़ै–
लछिमन के भैया सिरी चढ़ै, और सेहरौ उन घर जाइ ।।
री बैहनि, बन्यौरी कुँमर कौ सेहरौ ।।
और मालिनि, गुह्यौ री गुह्यायौ सेहरौ ।
और धर्‌यौ ऐ राँमजी के सीस, री बैहनि बन्यौ ऐं कुँमर कौ सेहरौ ।।

(१३)

नाँहिनि नगर बुलाए देति, लगुन राम-घर धरबामें ।।
सबु सखिआँ जुरि मिलि कैं आमें, कौंसल-भँमन भरति आमें ।

मधुर-मधुर सब सुर गाँमें, सो अवधपुरी बरनाँ गाँमें ।।
झुंड के झुंड सखिन के आँमें, भरि-भरि डला चाब लाँमें ।
हीरा, लाल, जबाहर, मोती, भरि-भरि डला चाब लाँमें ।।
चँचल नारि नचति अँगना में, झँनर-झँनर नेबर बाजें ।
जब रघबर की राति जगाँमें, मेंहदी हातँनु रचवामें, सब सखियाँ मंगल गाँमें ।।
जब रघबर पै तेलु चढ़ाँमें हरद तेल में लिपटाँमें ।
भूआ-भेंना करें आरतौ, माथें मरुअटि लगवाँमें, ऊपर चाँमर चुवटाँमें ।।
रघवर की निकरौसी कीनीं मौहरु राम पै बँधवाँमें ।।
कंचन चुरी मोतिन के गजरे, बैहनँन लै कें पैहराँमें ।
दूल्हे की निकरौसी कीनीं घोड़ी राम कूँ मँगवाँमें ।।
पिता जु जसरथ लिएँ संग में, थैली ऊपर लुटबाँमें ।
माइ कौसिल्या लिए गोद में मंदिर-मंदिर उझकाँमें बे ऊभट ऊभट उझकाँमें
कुआ-बाबरी उझकाँमें जब धूप सरैया फुरवामें, बाग बैहिन पै मुरबाँमें ।
माइ कौसिल्या ठाड़ी समझाँमें सो जनकपुरी सूं जल्दी अइयो ।।
सो ब्याहि जानकी ऐ घर लइयो ।
नाऊ-नेगी आसामेदी सब कौ सनमुख धरि अइयों ।।
राजा जसरथ कौ नामु बड़ौ ऐ, नेग चुकाइ के घर अइयों ।
सारी सरहज ठट्ठा करिंगी सबु कें आगें हँसि जइयौ ।।

विवाह के अवसर पर कुछ गीत 'राम-कथा' से घनिष्ठरूप से सम्बन्धित होते हैं उनमें कोई न कोई कथांश रहता है और भाव-सम्पत्ति भी मार्मिक होती है। सीता के जन्म की कहानी निम्नस्थ पद में दी गयी है:—

(१४)

जेठ जौ उतरयौऐ, असाढ़ जी लाग्यौ, इंदरु सूखा डारौ ।
रंग-बरसैगौ, हाँ, हाँ, राँम रँग बरसैगौ ।।
राजा जनक नें पण्डित बुलाए, करि रहे सोच बिचारी । रंग-बरसैगौ ।
राजा जनक जी, बुरौ न मानों, सुनि लेउ अरज हमारी ।
राजा जनक तुम हर लै निकरौ, रांनी ऐ चकरारी ।। रंग-बरसैगौ ।
आक-ढाक कौ हरु लै निकरौ रांनी ऐ चकरारी । रंग बरसैगौ ।
सुरई गऊन के हर जुरबाऔ सत कौ कुसि डरबाई ।। रंग बरसैगौ ।
राजा जनक जी हरु लै निकरे रानी है चकरारी ।
राजा जनक नें हरु हांक्यौ तब कुस कन्याँ आई ।। रंग बरसैगौ ।।

राजा जनक नें कन्याँ लेकें राँनी गहाई ।
राजा-राँनी लै घर आए, घर घर बटति बधाई ।। रँग बरसैगौ ।।
तीनि दिनाँ की बे भई कन्याँ, जब सोभरि खुलबाई ।
छटए दिन की जब भइ कन्याँ, व्वा की छटी पुजाई ।। रँग बरसैगौ ।।
दसए दिन की जब भई कन्याँ, जब व्वा कौ नाम धरायौ ।
छै महीनाँ की जब भईं कन्याँ सब नें गोद खिलाई ।। रँग बरसैगौ ।।
एक बरस की जब भईं कन्याँ सरकि कचेहरी आईं ।
तीन बरस की जब भई कन्याँ गलियँन खेलँन आई ।। रँग बरसैगो ।।
सात बरस की बे भई कन्याँ, सखियँन खेलँन आई ।
सुनों बराती प्रेम-प्यार तें जगत मातु गुन गाई ।। रँग बरसैगौ ।।

नीचे दिया हुआ गीत कंगन की गांठ खोलते समय गाया जाता है । अंचल की ओट से सीता की मुसक्यान ही आकर्षक नहीं, धनुष तोड़ने वाले राम से कंगन की गांठ नहीं खुल रही, इसमें भी रस है । धनुष तोड़ने की इस विशेष घटना के कारण ही यह गीत राम-कथा का अंग बन गया है ।

(१५)

जौ हरि आजु हमारें आमें, केसरि अँगनु बुहारूंगी, फूलन माला डारूंगी ;
चंदन चौकी दऊं बैठनों दूधँन पांम पखारूँगी ।।
हरे हरे गोबरु अँगनु लिपाऊँ मोतिन चौक पुराऊँगी ।।
कूँम-करस इमिरितु भरि लाए, चंपे डार झकोरूँगी ।।
सकल भीर आँगन बैठारूं साठी के आखत डारूँगी ।
जनक के अँगनाँ भीर भई भारी, जुरि आईं सबु नारी ।।
चार्यों भूप बराबरि बैठे, कहा परस्यौ मैहतारी ।।
जौ कंगन की गांठ न खूटै बोलि लेउ मैहतारी जी ।।
अंचर ओटि सिया मुसिक्याँनी, चों सकुचौ तुम नारी जी ।।
तोरत धनुस पलक नाँ लाग्यौ कंगन-गांठि कहा भारी जी ।।
ऊनी और रेसमी, सूती, दिये कुमासँन डारी जी ।
थार, गिलास, कटोरा, लोटा, धोइ-धोइ धरे अगारी जी ।

किन्तु इससे भी अद्भुत है वह गीत जो आनुष्ठानिक पहलू का तो है पर जिसमें सीता 'भाट की बिटरिया' बना दी गयी हैं । वह 'भाट बिटरिया' सीता राम को किसी राम-बाटिका में नहीं मिली एक ताल के किनारे जौ रखाती हुई मिल गयी हैं : —

(१६)

राँमु अहेरें नीकरे लछिमनु लागे हें साथ; सीता कौ मंगल गाइऐ ।
मति चलौ लछिमनु, मति चलौ; मरि हौ भूंक-पियास, सीताकौ मंगलु गाइऐ ।।
न हमें भूँक न प्यास ऐ, चलि हें तुम्हारे, ई साथ; सीता कौ मंगलु गाइऐ ।
एक बन नाँखौ, दूसरौ नाख्यौ, तीजे बन लगी ऐ पियास; सीता कौ मंगलु गाइऐ ।।
ना ज्याँ कुअटा, न बावरी, ना ज्याँ जसरथ के ऐं ताल, सीता कौ मंगलु गाइऐ ।
डूंडी पीपरि झकझालरी माँ चढ़ि लछिमनु देखिऐ; सीता कौ मंगलु गाइऐ ।।
तनिक बिटरिया भाट की, रखावति ऐ जौ कौ खेतु, सीता कौ मंगलु गाइए ।
तनिक तलैया जलभरी माँ चलौ जलु पी लेंइ; सीता कौ मंगलु गाइऐ ।।
प्यासे होउ तो जलु पियौ, भूकें जौ रे चबाउ, सीता कौ मंगलु गाइऐ ।
भाट बिटरिया जानुकी और जे हैं गे श्रीराँम; सीता कौ मंगलु गाइऐ ।।
राँम-सिया जोड़ी बनी, दोउ मिलि होइगौ ब्याउ, सीता कौ मंगलु गाइऐ ।
जसरथु पाती लिखि दई है, रखी है जनक जू के हाथ, सीता कौ मंगलु गाइऐ ।।
बिन घर क्वारी हें जानुकी, अरु हम घर हैं श्रीराँम, सीता कौ मंगलु गाइऐ ।
जनक ने पाती लिखि दई, धरी ऐ जसरथु हाथ; सीता कौ मंगलु गाइऐ ।।
हम तौ रे भाट-भिखारिया और तुम राजा महाराज, हमें तुमें कैसें होइगी सजनई ।
कोरे से कागद मँगाइऐ, हरदा, दूब मँगाइ, सीता की लगुन लिखाइऐ ।।
पांच सुपारी औरु नारियर, मोहरें दई हें धराइ सीता की लगनु पठाइऐ ।
लगुन चढ़ी बाजे बजे, सजी ऐ बरायत जाइ, सीता कौ मंगलु गाइऐ ।।
नाँ मो पै देंनी-दाइजौ, ना कलसनि के ऐं जोट; सीता कौ मंगलु गाइऐ ।
राँम-सिया भाँमरि परीं, बिरमाँ बेद उचारि; सीता कौ मंगलु गाइऐ ।।
ब्याहि चलौ री जसरथु कौ छोरा, अवधिपुरी कूँ जाइ, सीता कौ मंगलु गाइऐ ।
हाथ जोरि जनक भए ठाढ़े मौ पै कछू बनि नहीं आई, सीता को मंगलु गाइऐ ।।
रसोई-तपँन कूं सीता दीनीं, जैमें सिबु-परिवारु, सीता कौ मंगलु गाइऐ ।
सीता की मैया यों कहै, मेरी सिया अकिली न होई, सीता कौ मंगलु गाइऐ ।।
दौस सहेलिन झुंड हें, राति कौसिल्या की गोद; सीता कौ मंगलु गाइऐ ।
सीता की मैया यों कहें मेरी सिया भूँखी न होइ, सीता कौ मंगलु गाइऐ ।।
दिन कूं तौ जैमें सुखपुरी, राति कटोरनि दूध; सीता कौ मंगलु गाइऐ ।
सीता की मैया यों कहै, मेरी सिय प्यासी न होइ; सीता कौ मंगलु गाइऐ ।।
दिन कूं तौ पीवै पानियाँ और राति कूँ सरजू कौ नीरू, सीता कौ मंगलु गाइए ।

धनुषयज्ञ क्यों किया गया इसका पौराणिक और साहित्यिक विधान कुछ भी हो लोकवार्ताकार तो कहता है कि :—

(१७)

बेटी सितलदे ने लिपनों डारी, धनुष धरयौ ऐ उठाइ, न हो ।
बाहिर ते रे जनकु घर आये तौ किन्नें जिअ धनुष उठाऔ न हो ।।
सीता की मैया यों उठि बोलीं, बेटी सितलदे,
नें लिपनों डारी, तौ धनुष धर्यौ ऐ उठाइ, न हो ।
राजा जनकु मन अतिरजु मानौं, तौ भई ऐ व्याह के जोग, न हो ।।

और तब उन्होंने कहा कि जो धनुष तोड़ेगा, सीता का व्याह उसी से होगा। धनुषयज्ञ हुआ तो—

देस देश के पंडित जोरे, तौ देस-देम परिमाँने, न हो ।
देस-देस के राजा आए, भूप जुरे अभिमाँनी, न हो ।।
जो जा धनुष कूँ टोरै सोई सिया-बरु होइ, न हो
बिस्वामित्तर जनक-घर आए, संग जसरथ के ढोटा, न हो ।
सिगरे राजा बल करि करि हारे, परि तिलु भरि टारें-टारौ, न हो ।
बिस्वामित्तर जब आज्ञा दीनीं रांम उठे हरखाइ, न हो ।
दाँईं भुजा सूं धनुष उठायौ, तौ करि दए न्यारे-न्यारे टूंक, न हो ।।
धनुष री टूटनि, बदरा की गरजनि घोर भई तीनों लोक, न हो ।
राँम-सिया की भाँमरि परी, बिरमाँ बेद उचारै न हो ।
व्याहि चले जसरथ के छोनों देव करें जै जै, न हो ।।

यहीं 'सीता व्याहुला' भी दे दिया जाता है । यह 'सीता व्याहुला देवी-जागरण के अवसर पर, सम्भवतः, गाया जाता है । ऊपर के गीत की कथावस्तु दूसरे शब्दों में कही गयी है :—

कंठ सुरसुती-सुमिरि प्रेम आँनंद मनाँमें,
जो गुरु आग्या देइ कै हरि के गुन गाँमें ।
आँन बुद्धि परगत भई, गुर-गन्नेस मनाइ,
सीता-व्याह राँम की चरचा जाँमें हर-जसु कहूँ बनाई
राजा अपने नाँम, जँनकपुर गाँम बसायौ,
सीया लियौ औतार पिता कौ नाँम चलायौ ।
चार्यौ कोने झारि कें लीप्यौ चौका लियौ बनाइ,
दै रूमाल मगँन भई राँनी म्वाँ हँपे जँनक तेरी नारी ।

राँनी-राजा बैठि बोलि एक् मतौ कमायौ,
अपु कूँ मूढ़ा डारि, राज कूँ पलँग नवायौ।
आजु को बात कहा कहूँ राजा, अतरज मेरे गात,
परसराँम कौ बाँनु कुँमरि ने धर्यौ एक ई हात
जब राजा ने कही मोइ परतीति न आवै,
जे बेटी चौका देइ बाँन कूँ फेरि उठावै।
परसराँम के बाँन कूँ सीया लावै अधर उठाइ,
जो कोई बाँन सभा में ताँनें में सिया ऐ दुग्गो व्याहि।
राँनी, कहा ओस कौ नीरु कहा बादर की छाया,
कहा ओछे ते प्रीति कहा सपने की माया,
सपने साँचे ना भए मेरी राँनी राज-कुँमारि,
परसराँम कौ बाँनु उठै नाँ जे तीन लोक कौ भारु।
राजा जे सपने की नाँहि, कहूँ मैं आँखिन देखी,
लीयौ बाँनु उठाइ कुँमरि तेरी सीता बेटी।
सीता सत की आगरी, ब्रित की कही न जाइ,
तीन लोक कर पै धरि राखे, कुँमरि तेरी मंद मंद-मुसकाइ॥
राँनी, कोंन कूँ टीकौ करूँ कोंन बर व्याहँन आवै,
राजा, घर-बर लेउ पैहचाँनि जाँनि बर समरथु ढूंढ़ौ।
सिया भई बर-जोग, ब्याह बर मारग भेजौ॥
सिया संत-गुन-आगरी भई ब्याह संजोग,
जुरि-मिलि मतौ करौ मेहलँन में सबु, राजु जँनक कौ लोगु॥
राँनी कोंन कूँ टीकौ करूँ कोंन बर ब्याहन आवै ?
बड़े भूप कौ पूत फेरि माता ना ज्यावै।
आगें साह्यौ सूझतु नाँएँ, सीया भई बर चूक,
घरई बैठे बोलि लुंगो सब देव, सकल मुनि भूप॥
राजा, कर्यौ जग्य कौ ठाटु भूप सबु नौंति बुलाए,
देस-देस के भूप छाड़ि सिंगासँन आए।
तीन लोक चिट्ठी फिकी, सब देवनु माँनी आँनि,
उँमहे कटक, छए दल-बादल म्याँ जँनक तिहारे गाँम।
आगे बेस्वामित्र पाछें ते लछमँन बारे,
जे देऊ आए बीर, लगें सबु देवँनु प्यारे।

जोगिनु पै मृगछाला कहिए, सोभा कही न जाइ,
पहुँचे निकट जँनकपुर-गौंड़े जोति दई छुड़काइ।
जरि आए सब भूप बाँन के सँनमुख धाए,
साठिक जोधा गए बाँन के जौरें आए।
कठिन बाँन गंभीर कौ कबु लाए अधर उठाइ,
उतरि गयौ जोबँन कौ पानी सबु भूप गए कुम्हिलाइ।
जौ जू न आए दोऊ बीर, बाँन किनऊं नाँ ताँन्यों,
बीस भुजा, दस सीस, गरबु राँमन कौ भाँन्यौ।
असलि जीव संचै पर्यौ, कठिन बाँन गंभीर,
सुनतई पैज सूखगौ राँमनु म्वाँ ढर्यौ नेंन ते नीर।
जब मंदोदरि कहै सुने राँमन बलदाँनी,
सेज सुकँन गए भूलि संखि तैनें कोंन की माँनी
जल-बिन कमल, तेल-बिन बाती, तलपि-तलपि बुझजाइ,
कोंन की संखि करी पिया राँमन तेरौ बदँनु रह्यौ-कुंम्हिलाई॥
जब राँमन नें कही, सुनों मंदोदरि राँनी,
रूपी जँनकपुर पैज, संखि मेंने म्वाँ ते माँनी।
कूमकरन रहे टेरि कंठ ते कंठ लगायौ,
ब्वाकी ठोकी पीठि नेंन राते कर लायौ।
ऐसे बाँन बहुत घर मेरे खेलत निपन अजाँन,
खंड-खंड करि देंउ बाँन के मोइ बिरप की आँनि।
कूमकरन से बली जाइ के दल में दाले,
हातँनु छीयौ नाँहि चरँन ते बाँन निहारे।
बैठि गयौ धरनी में जोधा, इत-उत करिकें घूरि,
औरु बाँन के धोकें डोलै बाँन रह्यौ जरपूरि।

आजु कहा सो हरि पै धनुँष तनें नाँ,
जिन पै धनुष तनें नाँ जे दोऊ बारे जी।
देस-देस के भूपति आये लम्बे परे बिछोंना,
बेस्वामित्र संग गुरु जिनके जे आए जसरत जी के छोंना।
जिन पै धनुष ताते नाँ, जे दोऊ बारे जी।
पीताबर की कछनी काँछें हातँन में कड़े मुरेंमाँ,

माँथे मुकट खौरि चांदन की स्याँम बरन हरि के दोऊ नैनाँ।
जिनपै धँनुष तने नाँ, जे दोऊ बारे जी ।।
कहति सुनैनाँ सुनि मेरी भैनाँ जादू चलै न टोनाँ।
जौ ग्राजु हरि पै धँनुष न टूटै, मरूँगी जहरु-बिसु खाइ,
मेरी भैनाँ-दोऊ बालक ऐं ।।
इतनी सुनि कें लछिमन बोले, ठाकुर हुकमु करौ नाँ।
तुलसी दास ग्रास रघबर की तोरि धँनुष द्वै टूक करौ नाँ ।।
जिनपै धँनुष तने नां, जो दोऊ बारे जी ।।
राजा माला लेउ मँगाइ जोरि सीया ऐ गहाग्रौ,
जापै देगी डारि कुँमरि ज्याई कूं ब्याहौ।
भरे कटक में सीया डोलै, नजरि नई ठहराइ,
देखि रूप लछिमँन बारे कौ दई रांम पै डारि ।।

इस गीत की पंक्तियों से स्पष्ट ही सीता के रूप में देवी के स्तवन का भाव है। तभी इस गीतकार ने कहा है—'सीता सब की ग्रागरी, वित की कही न जाइ। तीन लोक कर पै धरि राखै, कुमर तेरी मंद-मंद मुसकाइ', शिव के धनुष को परशुराम का धनुष (बान) बना देने में भी यही शाक्त प्रभाव काम कर रहा है।

ल्हौचारियों में रामकथा की एक झाँकी इस प्रकार है :—

ढब-ढब डोंरू बजि रह्यौ, बिकट बनी के बीच, बन मे हरी ऐं सीया जाँनुकी।
लंका ते राँमनु चल्यौ, कोई धरि जोगी कौ भेखु ।।
सीता भिक्षा डारि दै, तेरे जोगी ठाढ़ो द्वार ।।बन में०।।
मैं कैसे भिच्छा डारि दूं घर, देवर दै गए ग्राँनि ।।
सीता भिच्छा डारि दै तेरे जोगी ठाढ़ौ द्वार ।।बन में०।।
थर भरि मोती सीया लइऐ, कोई लै जोगी के भीखू ।।
ग्राँनि की भिच्छा ना लऊँ, रेखा ते बाहिर ग्राउ ।।बन में०।।
सीता भिच्छा लाइऐ भीतर लई ऐ झोरिया में डारि ।।बन में०।।

जाँति के गीतों में एक करुणरस से परिपूर्ण ग्रनूठा गीत भी गाया जाता है। वह ग्रनूठा इसलिए है कि उसमें 'सीता वनवास' का जो कारण बताया गया है वह विशेष ध्यान ग्राकर्षित करता है। सीता ने ननद के कहने से रावण का चित्र बनाया, राम ने देख लिया। इससे रुष्ट होकर राम ने सीता को वनवास दे दिया। गीत यों ग्रारम्भ होता है:—

राजे, नँनद-भवज दोऊ बैठिऐ, भाभी कैसी सुरति देखी,
राँमनु चित्तिर लिखि दिखराइऐ

भाभी, भैया की नारि गरभ ते, ठाड़े है कें काढ़िऐ
लाली, तिहारे बिरँन भौंए बैरी, राजे, जौं सुनि पाइऐ।
फिर ते हाल निकारिऐ।

किन्तु ननद तो हठ पड़ गयी। गीत आगे बढ़ता है :—

भाभी नें बुहुतेरी समुझाइऐ, हठीली हट परि गई।
राजे, पूरौ जौ राँमनु लिखि दयौ,
भवज जु ड्यौढ़ी करि दई, राजे, बीरँन चित्र दिखाइऐ।
बोलौ ओ छोटे भैया ओ लछिमन,
राजे, सीता ऐ बनखँड मारिऐ, नेंनुन लाओ निकारिऐ॥
चंदनु-रथ जुरबाइऐ, लछिमन भए रखवार।
राजे, इक बनु नाँखि, दूजौ बनु नाँख्यौ तीजै बनु पहुंच्यौऐ जाइ॥
राजे, सीताऐ लगि आई प्यास, देवरु पाँनी लाइऐ।
भाभी, बैठो तरबर की छांह, हमतौ रे पाँनी लाइऐ॥
सीता सोई ऐ चादरि ताँनि, राजे, लाला जी पाँनी कूँ गए।
लछिमन लाए ऐं दोनाँ-भरि नीरु, तरबर के टाँगे डार पै॥
राजे, लछमिन रथ जौ हाँकिऐ, राजे, टपक बूँद मुखड़ा-परी।
सीता, देखति आँखि पसारिऐ, राजे, रोंमति जार-बजार॥
राजे, सुनि-सुनि सबदु कुइलिया, कुटी में ते निकरे बाबा जी।
बेटी चलौ हमारे साथ, मेरी कुटीऐ करौ बिसराम जी॥
राजे, कोइल सबदु सुनाँमती औरु हँमई जनाँमें नंदलाल।
बन की कुइलिया दाई बनिगी, मैंना बनिगीं मेरी सासु, बाबा मेरे करिंगे सहाई॥

गीत में करुणा का प्रबल उद्रेक है जो बाबा जी की सहानुभूति और कोयल-मैंना के सम्बन्ध से और भी गाढ़ा हो जाता है। इसमें कथा-सूत्र घनिष्ठरूप से राम परिवार से सम्बन्धित है। इसी प्रकार एक छोटा सा गीत और है जिसमें आर्द्रता विद्यमान है जैसे उक्त गीत का ही कुछ बड़ा संस्करण हो। यह गीत यों है:—

सीता जी का बनवास

(जन्ति का एक गीत)

ननद भवज दोऊ भतौरे कमायौ,
भाभी रामनु कैसे भेसु
हम रे बताइऐ।

बीबी रामनु ऐसे भेस कौ,
तुमें कैसें बताइऐ ।
जो सुनि पामें तिहारे बिरन
ठाड़ी गढ़वाइऐ ।
भाभी भैया कचैरीनु जाँइ
चित्रु जो लिखिकें बताइऐ ।
ननद भवज दोऊ बैठी ऐं
गेरू दीनों हात ।
भाभी, धरती पै लिखिकें बताइऐ ।
भाभी नें रामनु काढ़िऐ
बीस; भुजा दस सीस
इतने में रामचन्द्र आइऐ
लाली अंचरते उदाबि
भैया तुमारे आइऐ ।
बिरनु देहरि जब आइऐ
बहिनि नें खोलि दिखाइ ।
भैया तुमतौ कहत सीआ सत्की
देखौ रामनु दियौ बनाइ
सीता सात महीना गरभते
राम अति सोच में
सिरी रामचन्द्र भोर भए उठिजाइ
लछिमन दीये सो जगाइ ।
भैया रथ क्यू लेउ सम्हारि
तौ सीताऐ बैठारिऐं ।
भैया बन बिच दीजौं छोड़ि
तुम जौलौटि घर आइऐ ।
लछिमन भए ऐं उदास
भैया कहार खोटु जापै बनि गयौ।
आजुमेरी भाभी घरते दीनीं निकारि
इकु बन नांखि दूजौ बन नांख्यौ

तीजे वन लगि आई प्यास
लाला मैं तौ प्यासी मरि चली
और पानी देउ पिवाइ
भाभी इत उत देखूं पानी ना मिले
जा बनखंड के बीच
भाभी तुम तौ विरछ तर सोइऐ
पानी लाऊँ मैं खोजि।
सीता गहरी नींद में सोइऐ
नीरु जौ लाए झकोरि
लोटा बिरछ ते टाँगिऐ।
औरु रथु दीयौ लौटाइ
नैनन तें आँसू बहि रहे
टप टप बूँद परै मुखड़ा पै
सोमत सीता जागिऐ।
इत-उत देखन जाँइ।
परिजाइ लछिमन कहूँ न दीखिऐं।
राजे रोइ-रोइ करत बिलाप
बनकी कोइलिया होइ तो बोलिऐ
रजि, मोइ नाँऐं दीखतु कोइ
कहाँ अब जाइऐ
राजे एकु जौ साधू आइऐ
पूछतु सबरौ हालु
सीता रोइ-रोइ हालु बताइऐ।
सीता लई जानें हियरा लगाइ।
बेटी मेरी कुटी चलि देउ
माँरे तुम अब रहीजिऐ।
राजे, जे नौ जे दस मास
पीर उठि आइऐ
सीता भौतु सरम करि बैठि
सौ काऊ न बताइऐ।

बन की कुइलिया दाई बनी ऐ
सो होरिलु सबहु सुनाइऐ।
राजे सोइएँ कुसा बिछाइ
सो मुनि ने जिनकी सेवा करी

(२)

जौ घर होती दाई हमारी
नारु जो देंती कटवाइ
आजु लाला बन में भए।
जौ घर होंती धोबिन हमारी
सोभार देंती धुवाइ
जौ घर होंती नाहिनि हमारी
नगर में देतो बुलाइ
आजु लाला बन में भए।
जौ घर होती सासु हमारी
चरूआ देतीं चढ़वाइ
जौ घर होती ननद हमारी
संतिए देंती धराइ
सीता रोइ-रोइ करै विलापु
आजु लाला बन में भए।
जौ घर होते ससुर हमारे
थैली देतें लुटाइ
जौ घर होते दिवर हमारे
पल्लौ देती सधाइ।
आजु लाला बन में भए।
जौ घर होते पंडित हमारे
नामु जौं देते धराइ।
आजु लाला बन में भए।
मुनि नें नामु धर्यौ ऐ विचारि
बेटी चों करि करै विलापु
आजु लाला बन में भए।

इसी का एक और लघु रूप यों है जिसमें प्रवाह विशेष है :—

सीता ठाढ़ी पछिताइ, कुस बन में भए।
जो घर होती सास कुसल्या चरुए देंती धरवाइ ।।
जौ घर होंती नंनद हमारी, संतिए देती धरबाइ ।
जौ घर होते ससुर हमारे, नौबति देते धरबाइ ।
जौ घर होंते देवर हँमारे, तीर देते सँधवाइ, कुस बन में भए ।।

कुश के बन में होने की घटना का अत्यन्त लघु सूत्र ही ऐसा सूत्र है जो रामकथा से सम्बन्धित है, शेष बातें संस्कारों की गिनती और उन्हें कौन सम्पादित करती है इसके उल्लेख के लिए है—सास चरुए धरायेंगीं, नंनद साँतिये रखती है, ससुर नौबत रखवाते ।

एक और गीत है जिसमें 'लव कुश' के जन्म का और सीता-बनवास का ऐसा ही करुण-चित्र दिया गया है । यह गीत सम्भवतः देवी के जागरण में गाया जाता है :—

लव-कुश-जन्म

उड़ी बिहंगम चिड़ी जाइ सीता समझाई,
जा बँन रही बिलखाइ कोंन की नारि कहाई ।
कोंन पुरख की नारि कहा तो पै बनि आई,
जा बँन दई ऐं निकारि ।।
जब सीता ने कही बिपति की कहियों जाई,
बर पाए रघुराइ अजुध्या ब्याही आई ।
जसरत बहू जनक की बेटी, रांमचंद की नारि,
बिनई खूँन अमूरख कता, जाबंन दई निकारि ।
तू तिरिया बड़ नारि बचनु एक मेरौ लीजै,
बाल-जती बँन रहें, सरँन उनकी जाइ लीजै ।
मोइ कहत आबै नहीं तोइ मारग देउँ बताइ,
काऊ दिनां रामचंद जी तेरे करें निहोरे आइ ।
आगें बिहंगम चिड़ी पाछें ते सीता राँनी,
बनखंड पोंहची जाइ जहाँ तपसीनु की सारी ।
तपसी बैठ्यो भजँन पै धरि ठाकुर कौ ध्याँनु,
सीता सरकि मढ़ी में बैठी खेंचि आपनी आँनि
धरि ठाकुर कौ ध्यांनु मढ़ी के जौरें आये,

फिर आए चहुँ ओर मढ़ी को द्वार न पाए।
ठाड़ौ तपसी यों कहै मेरे सिला जु बसकी
नाँइ, ऐसो बली अब की घुस आयौ लींनी मढ़ी छिड़ाँइ।
बाबा बन में लीयौ जनम, अजुध्या में होते,
देते दिरब लुटाइ लछिमन देबर होते।
लाख बुरी मेरी भगनी-नँनदुलि धरति साँतिए द्वार,
ऐसे में कौसल्या होतीं गाँमतीं मंगलचार।
बालजती नें कही, सुनो मेरी सीता बेटी,
निधरक बैठी रहौ कहूं ना बिन ते खोटी।
कहै धरवाऊँ साँतिए, कहै तो मंगलचार,
कै निसाँन घुराऊँ बेटी, तपसीन कै दरबार।

इस गीत में स्पष्ट ही राम की भर्त्सना की गयी है—

तिनई खूँब अमूरखता जा बन दई निकारि।
तथा काऊ दिनां रामचंद जी तेरे करें निहोरे आइ॥

इनसे स्पष्ट ही लोक-साहस ही नहीं प्रकट होता, देवी-प्राधान्य अथवा स्त्री-प्राधान्य की भी ध्वनि स्पष्ट होती है।

यहीं आश्रम में एक दिन राम-लक्ष्मण आगये। दोनों प्यासे थे। रानी के दोनों बालक पानी भरकर लाये—पर राम लक्ष्मण बिना जाति पूछे पानी पीने वाले नहीं। वे माँ बाप का पता जानना चाहते हैं। इसी गीत में सीता वनवास के उपरांत लव-कुश के माध्यम से राम-सीता मिलन का उल्लेख हुआ है, पर वास्तविक मिलन से पूर्व ही सीता पृथ्वी में समा गयीं—राम झपटे पर उनके हाथ में पृथ्वी में समाती हुई सीता के केश ही आ सके—गीत यौं है :—

खेलत रूप-सरूप राँनी के दोनों बालिका।
जुरि-मिलि बालकु खेलु बनायौ राँमाँ, आइ गए लछिमन-राँम—
राँनी कै दोनों बालिका, खेलत रूप-सरूप राँनी के०॥
माँजि धोइ लोटा भरि लाए राँमा, पानी तौ पिओ भगवाँन।
राँनी के दोनों बालिका, खेलत रूप-सरूप राँनी के०॥
तिहारे हात जलु नाँ पीमें बालिका, जाति बताओ माई-बापु।
राँनी के दोऊ बालिका, खेलत रूप-सरूप राँनी के०॥
मात हमारी सीता जौ कहियँतु राँमा, पिता की सुधि नाहिं।
राँनी के दोऊ बालिका, खेलत रूप-सरूप राँनी के०॥

वा सीता कूं हमें रे दिखइयों राम, कहाँ रे बसति तिहारी माइ ।
राँनी के दोऊ बालिका, खेलत रूप-सरूप राँनी के० ।।
ठाड़ी सीता केस सुखावै राँमा, आइ रहे लछिमन-राम ।
रांनी के दोऊ बालिका, खेलत रूप-सरूप राँनी के० ।।
फटि जाइ धरती, समाइ जाइ सीता राँमा, जीमत दियौ बन बास ।
राँनी के दोऊ बालिका, खेलत रूप-सरूप राँनी के० ।।
फटि गई धरती, समाइ गई सीता राँमा, केस राँमु जी के हात ।
राँनी के दोऊ बालिका, खेलत रूप-सरूप राँनी के० ।।

इस गीत में लंका जीतने की विधि का भी उल्लेख है । राम जब लौटकर अयोध्या आ गये हैं तो माता कौशिल्या ने पूछा कि बताओ, लंका कैसे जीती--इस प्रश्न के उत्तर में लंका के जीतने का विवरण दिया गया है:—

घर आइ गए लछिमन-राँम पुरी में आँनंद भए । (टेक)
हरे हरे गोबर अँगनु लिपाए, मुतियँन चौक-पुराए ।
अरी, माँतु कौसल्या करै आरतौ तिरियँन मँगल-गाए ।। पुरी में०
मात कौसल्या पूँछन लागी, कहौ लंक की बात ।
कैसें तौ गढ़ लंका तोरी कैसे तौ लाए सीआ नारि ।। पुरी में०
आठ घाट लछिमँन ने घेरे, औघट घेरे राँम ।
दरबाजौ अंगद नें घेर्‌यौ लंका में कूदे हनूँमान ।। पुरी में०
राँम भजौ, सिया राँम भजौ, गुरु चरनँन चित लाइ ।
चारों भैया हैं इकठौ रे, फूलँन की होइ बरसात ।।

यों एक गीत में हरि के चलने के लिए प्रस्तुत होने और सीता के रोकने का उल्लेख है पर यहाँ पर राम-सीता फिर नाम मात्र के लिए आये हैं । राम से अभिप्राय तीर्थयात्रा के लिए जाने के लिए प्रस्तुत व्यक्ति का है, सीता उसकी गृहिणी है ।

चलँन-चलँन वै हरि करें अरु सीता चलँन न देइ,
हँमारे मन राँम जी बसैं ।
जो तुम हरि मेरे जात औ मन राँम जी बसैं,
अरु हमहिं कहा बुधि देउ मन राँम जी बसैं ।।
कँनिक कुठीला घीउ कूपिया अरु करिऔ भोग-बिलासु,
हमारे राँम जी बसें ।
एक अँदेसौ मेरे मन रह्यौ मन राँम जी बसें,
और सासु न ज्याए देवर-जेठ हँमारे मन राँम जी बसै ।।

ग्रौरु न मरंन मैं बैठती रे, ग्ररु लड़ती रे बैइयाँ-पसारि,
हँमारे मन राँम जी बसें।
ग्रौरु ग्रंदेसौ मेरे मन रह्यौ मन राँम जी बसें,
माइ न ज्याए राजा बीरु, हंमारे मन राम जी बसें।
गोद में लैकें खिलावती, सासुरे मैं हेरति बाट,
हमाँरे मन राँम जी बसें।
ग्रौरु ग्रंदेसौ मेरे मन रह्यौ मन राँम जी बसें,
कोंखि न जाए नंदलाल हमारे मन राँम जी बसें।
चलन फिरत रे देखती, करतु ग्रजुध्या कौ बासु,
हँमारे मन राँम जी बसें॥

पर तुलसी के नाम से प्रचलित गीत में तीर्थयात्रा के बहाने राम-सीता-लक्ष्मण की वनवास यात्रा का स्मरण लोक-मानस कर लेता है :—

पग हौलें धरौ रे धनुष धारी।
ग्रागे-ग्रागे राँम चलत हैं, पीछें लछिमंन बलधारी।
बीच बीच में चलें सिया जी, सोभा लगै ग्रधिक प्यारी॥
ग्वा बनखंड में प्यास लगी ऐ, कुँभिलाइ गई जैसे फूलवारी।
देबर लछिमंन जल भरि लाग्रो, भरि लाग्रो जल झारी॥
'तुलसीदास' ग्रास रघुवर की हरि चरनंन चित बलिहारी।
जाके घर से तीनों निकरे कैसें जी में इनकी मैहतारी॥

एक ग्रोर तीर्थयात्रा के प्रसंग से राम की वन-यात्रा का स्मरण करता हुग्रा लोक-मानस तो राम ग्रौर भरत के मिलने के पुण्य पर्व को भी वह नहीं भूलता। प्रत्येक बार जब उक्त गीत गाया जाता है तो इसका शब्द-शब्द को उल्लास से भर कर उठता है :—

उठि मिलि लेउ राँम, भरत ग्राए।
बिंदाबन में करी रे तपस्या राँमा, मथुरा जी में फल पाए।
हरे उठि मिलि लेउ राँम, भरत ग्राए॥
हरे-हरे गोबर ग्रँगन लिपाए राँमा, मोंतिन चौक पुरत ग्राए।
उठि मिलि लेउ राँम, भरत ग्राए॥
हाती के हौदा चढ़े री चारों भैया राँमा, ऊपर चोंर ढुरत ग्राए।
उठि मिलि लेउ राम भरत ग्राए॥
बईयाँ पसारि मिले री चार्‌यौ भैया रामाँ, नैंनन-नीर ढरत ग्राए।
उठि मिलि लेउ राँम भरत ग्राए॥

छोटे-छोटे कथांशों को लेकर लोक गीतों में कितने ही रूप खड़े किये गये हैं। एक टप्पे में सीता के अनुसंधान और हनूमान की स्वभावोक्ति का सुन्दर वर्णन हुआ है:—

टप्पे

मिरग को, मिरग-छाल बिछायें बैठे बंसी राघौराइ।
हात लीनें बीरा हनुमाँन ते कहें समझाइ॥
जाऔ रे जाऔ बीर, हमारे काज सारौगे।
सुन्दर से सरीर मैन लोचन बहुत एँ,
जानुकी-बिनाँ हम बिपता सहत एँ॥

काए कूँ दुखियाऔ राँम, देखौ चों न मेरौ काँम,
छिनेंक ऊ में खबरि लाऊँ हम चारों देस की।
कागद से फारि डारूँ, समुदर से बिलोइ डारूँ,
बूंद न छोडूं वा पानी के पलेछ की॥
आग्या देउ तौ रांम, लंका उठाइ लाऊं राँमन से नरेस की॥

सीता के लिए लंका पर चढ़ाई की, युद्ध हुआ, लक्ष्मण के शक्ति लग गयी। इस अवसर पर राम का विलाप साहित्यिकों के आकर्षण का ही विषय नहीं बना, लोक गीतों ने भी इसे स्थान दिया है:—

या बनखंड में मेरे भैया नाँएं, बाबुलनाँएं राँमा, नाँइ भैया रघुबीर।
बारे लछिमन, कहाँ तेरें लगि गयौ तीर,
दादा लछिमन, कहाँ तेरें लगि गयौ तीर॥ हरे
रोइ-रोइ भींजे हरि कौ पीरौ-सौ दुपट्टा राँमा कोन बंधावै हरि कूं धीर।
बारे लछिमन, कहाँ तेरे लगि गयौ तीर,
दादा लछिमम कहाँ लगि गयो तेरें तीर॥ हरे
या बनखंड में मेरे चाची नाँएं चाचा राँमा, नाँइ भैया रघुबीर।
बारे लछिमन कहाँ तेरें लगि गयो तीर,
दादा लछिमन कहाँ, तेरें लगि गयौ तीर॥ हरे
रोइ-रोइ बहि रही हरि की अँसुअन धारा राँमा, कौन बंधावै हरि कूं धीर।
दादा लछिमन, कहाँ तेरें लगिगयौ तीर,
बारे लछिमन, कहाँ तेरे लगि गयौ तीर॥ हरे
या बनखंड में मेरे भैया नाँएं भाभी राँमा, नाँइ भैया रघुबीर।
बारे लछिमन, कहाँ तेरें लगि गयौ तीर,

दादा लछिमन, कहाँ तेरें लगि गयो तीर ।। हरे
रोइ-रोइ भीजे हरि कौ पीरौ-सो दुपट्टा राँमा, कोंन बंधावें हरि कूं धीर ।
बारे लछिमन, कहाँ तेरें लगि गयौ तीर,
दादा लछिमन कहाँ तेरें लगि गयो तीर ।। हरे
मात कैकई से कैसे कहिगे रांमा, कहां छोड़ि गयौ अपनौं बीर ।
दादा लछिमन, कहां तेरें लगि गयौ तीर,
बारे लछिमन कहाँ तेरें लगि गयौ तीर ।। हरे
रोइ रोइ भींज्यौ हरि कौ पीरौ-सौ दुपटा राँमा कौन बँधावे हरि कूँ धीर ।
दादा लछिमन, कहा तेरें लगि गयौ तीर,
बारे लछिमन, कहां तेरें लगि गयौ तीर ।
मात सुमंत्रा ते कैसे कहुँगो राँमा, सीम्रा काजें दै आयो बीर ।
दादा लछिमन, कहाँ तेरें लगि गयौ तीर,
बारे लछिमन, कहाँ तेरें लगि गयौ तीर ।
रोमें हरि छाती फारि अकेले राँमा, कौन बंधावे हरि कूं धीर ।
बारे लछिमन, कहाँ तेरें लगि गयौ तोर,
दादा लछिमन कहां तेरें लगि गयौ तीर ।

इसी तीर लगने के अवसर पर संजीवनी लाने का कार्य हनुमान को सौंपते हुए एक लोकगीत (रजपूती होली) में राम कहते हैं :—

रजपूती होरी

हनुमाँन, सजीवन लाइयौ रे, नेंक दोंनागिरि लों जइयौ ।
बैद ने कहि दई ऐसे टेर, है जाइ देर इत ऊगै भाँन, लछिमन के प्रान ।।
घर नारी, नारी घर छोड़ि गई ऐ कुहनी पै बोलि रही ऐ, आधी ते भयौ भुरारौ ।
इस्त्री-पुत्र मिलि जाँगे जरूर दुस्वार मिलनों ऐ भया-सी मूर ।
दुनियाँ में कितेक काँम है मेरी सब सों राँम राँम है ।।

इन सब के उपरांत एक कुछ बड़ा गीत और दिया जाता है जिसमें शाक्त प्रभाव सबसे अधिक है । लंका जीत लेने पर राम के आगमन को व्यर्थ करने के लिए 'पलंका' चढ़ाई का गीत प्रस्तुत हुआ जिसमें 'शक्ति' की ही सामर्थ्य का प्रतिपादन किया गया है ।

पलंका चढ़ाई

१—जब सीता ने कही सुनौ हरि बात हमारी
रामनु मारयौ नांइ रमनियां तुमने मारी

कोटु पलंका ऐ मेरी सुनिकर्ता जगदीस
दर हज्जार भुजा रामन के औरु सहसै सीस
समुझि दोऊ राखे बलमा ।

२——जब लछिमन ने कही ज्वाइ तौ हमइ मारे
भौजी औरु सहसै सीस छांटि धरती पै डारें ।
सिंघासन ते उठि दये छिमा मत भए राम
अब मति देर करौ मेरे भैया, कर में बाधौं बान ।

३——जब भारत ने कही राम सिंहासन आओ
लंका आए मारि पलंका हमें बताओ
अंगद औरू हनूमान ते बचन कहूं समझाइ
कोटु पलंका औंधी मारूं जन्यौ कैकई माइ ।

४——अंगद औरू हनूमान जुरे कपि के दल भारी
जो धाए सुगरीव करी लड़िबे की त्यारी
ऐरापति पै चढ़ि लए चर्त-भर्त दो बीर
डेरा जाइ कुमर नें दीने ब्वा समुदर के तीर ।

५——जल में जोधा घुसे संकि सबु जोधन खाई
नौ जोजनु मरजाद समुद तेरे थाह न पाई
रामु रामु वे कहि रहे लीए नारायन मनाइ
तीन लोक के नाथ ने दीने विमान खंदाइ
रामचन्द्र परताप ते दल लगे पारि पै जाइ ।

६——राति भई दिनु गयौ मुंदन पै, बस्तर धरे उतारि
सबरे भैया भोजन जेंलेउ जबई करें पर काज ।

७——है रहे हाहाकार रास्त (राक्षस) सबरे जुरि आए
मतौ कियौ ठहराइ फेरि बे म्वाँते आए
आइ सनमुख ठाढ़े भए राजा ते करी पुकार
तुमारे बाग में जोगी आए हम सबेरे डारे मारि ।

८——जब राजा नें कही सुनौ तुम बात हमारी
जल्दी लाओ पकरि मति करौ अबऊ अवारी
बार-बार तुम ते कहूँ बचन दऊँ समझाइ
मारपीट मति करियो भैया लाओ संग लिवाइ ।

९——जोधा छूटे साठि क्रोध करि मन में भारी
कीये जुज्झ अँघाइ बात उनकी ऐ भारी
लड़त-लड़त भुजबल थके, हनुमत मुस्तिक हाल उठाइ
मारु मारु म्वां है रही बीति रहे घमस्यान।

१०——न्याँते जोधा चले फेरि पलंका में आए
राजा लीयौ जगाइ पास अपने बैठारे।
बार बार तुमतें कहे बचन कहें समझाइ।
हमारी पेस एकना जाइगी चलौ हमारे साथ।
लाज मन में धरी।

११——हुकमु दीये चढाइ फेरि नाकासुर बुलवायौ
पल मति करौ अवार छिनक में करि देउ भेलौ।
बार वार तुमतें कहुँ बचन कहूँ समझाइ
मार पीट तुम मति करौ, भैया जल्दी लाओ उठाइ।

१२——नाकासुर खूँदन लग्यौ फिरि आयौ चहुँ ओर
सबरी धरती तौरि दई पहुँच्यो कपि की ओट
हातु लगाइ के घुसि गयौ पहुँच्यौ काऊ लोक
उठाइ के धरती धरी मूँड़ पै खट सम्हारी झोक

१३——न्याते नाका चल्यौ चलत कछू वार न लायौ
पहुँचि अजोध्या जाइ फेरि व्यानें ? खायौ
अजोध्या पहुँच्यौ जाइके धरती धरी उतारि
न्यांई भैया सो औ करी मौतु करौ विसरामु।

१४——सबरे जोधा जगे सोच करें मन में भारी
तीनि लोक के नाथ अवैया करी हमारी
कैसे मिलें अब आइके इनपै कही न जाइ
तीन लोक के कर्तम करता ढिग पहुँचे ऐं आइ।

१५——नारद लियौ बुलाइ पास अपने बैठार्यौ
कहा कहुँ इक बात बात मो पै कह्यौ न जायौ।
बार बार तोते कहूं बचन कहूं समझाइ
एक बात दूजे कहुं अचरजु कह्यौ न जाइ।

१६—तीनि लोक के नाथ पार तेरौ ना पायौ
सबु रजवंसी जोरि सभा में बीड़ा डार्यौ
परें परें धौपरु भयौ पान गयें कुम्हिलाइ
बीड़ाऐ कोई न खाइ भैया, सीता लीयौ उठाइ।

१७—दिये विमान खंदाइ पास सबरे बैठारे
जोधा छुटि गये साठि क्रोध करि मन में भारे
छिनक-पलक के बीच में पहुँचे पलंका जाइ
पलंका की नारीन में है रहे जै जैकार।
राम तोरन कूं आए।

१८—जब सीता ने करी मिति एकै ठहराई
कटे खुसर के बैन, पास सगरे बुलवाए।
बार बार तुमते कहूँ बचन कहूँ समझाइ
कोटु पलंका औंधी मारौ, मति करौ नेंक अवारा।

१९—इतमें अंगद बली इतै हनमत बलधारी
है न लगे संग राम जुज्झ म्वां बीते भारी
लड़त लड़त भुजबल थके, दीये रास्त सबु मारि
न्यांते तौ वे भजि गए पहुँचे कचैरी जाइ।

२०—पहुंचि कचैरी जाइ, बात अपनी फरमाई
सुनि लेउ भैया बात, देस म्वां एक न जाई
एकु एक जोधा ऐसे दिखै और कोई हतुनांइ
कैतौ जगाओ नाकासुर कूं हमारे बल की नांइ।

२१—नाकासुर लीयौ बोलि फेरि आगें भयौ ठाड़ौ
सब रास्त लिये बुलाइ, विवल उन्में उन्सार्यौ।
विवलु पिया बजवार के लीनी हेग सम्हारि
न्यांते नाका चलि दयौ पहुंच्यौ उनके पास।

२२—इतमें रास्त बली इतमें ठाकुर की सेना
होन लगे संगराम बीजु म्वां एकु बचैना
मारु मारु म्वां है रहे, है रहे हाहाकार
न्यांते कोई बचतु हतुनाएं भैया, कैलोटे करतार।

२३—अंगदु लीयौ बानु उठाइ हरैया ब्वानें दीनी
पलंक पुरी पैदीये छोरि, लोथि पै लोथि ऐं कीनी।
सबु जोधा लिए मारि के छोडयौ एकु हतुनांइ
तीनि लोक के कर्तमकर्ता लीयें बान हटाइ।

२४—लीये बान उठाइ फेरि रामनु बलु खायौ
न्वांते रामनु चल्यौ पास दल के जब आयौ
आइ सनमख ठाड़ौ भयौ, ब्वानें दीनी कीक मचाई
काऊ ऐ मारै काऊ ऐ खाइ, पेस एक ना जाइ।

२५—कर्ता लीनें बान उठाइ, फेरि ब्वाने सुमिरन कीये
पार परति हति नाएं बान उनके लौट्याए।
बान पै बान छोड़ि रहै स्वामी, एकु चुभै हतुनांइ
सबकूं रास्तु लीलि गयौ ठाकुर गयौ मेरौ हारि।

२६—मन में जानुकी खुसी भई, कहा ठठु रोप्यौ करतार
रामनु तौ तुमने मारिलयौ कहां गये तिहारे बान।
अंगद औ हनुमान ते कहें सम्हारि सम्हारि
कैसें बान तिहारे जूझि गये, कहां गये करतार।

२७—कहाँ गये करतार क्रोध करि मन में भारी
कैसे करूं न्यां जुज्भु होइ न्या मेरी ख्वारी।
जोधा जाइ छिपे काऊ धोकि में म्वां रही जानुकी माइ।
पाछें कूँ दलु जब हटिगौ भैया जब आये करतार।

२८—सबरे जोधा जुरे पास जानुकि के आये
हमारे बस की नांइ मित्ति एकै ठहराये
हाथ जोरि सनमख भये परसे चरन अघाइ
कैतौ माता खबरि लेउ कहि जु रहे कपिराइ

२९—अभी परघट आइ जोति तीनों लोक में डोली
बु सहस कला ते अभि किश्न कूं दई दिखाई
सद रूप रामनु खाइ लियौ छिनकन करी अवार
म्वांते माता चलि दई कोई रुकवैया हतु नांइ।

३०--किश्न अगारी परि रहे पेस एक ना खाइ
सबरे जोधा चलि दए, सबु लीने बान उठाइ
पहुँचि गये कलकत्ता में, तौ माता मंदिर पहुंची जाइ ।

३१--मंदिर पहुंची जाइ पास नारा तव जागौ
नारहु चरन पर्यौ भैराइ बात अपनी ठहरायौ
माता तौ न्यों कहै सुनिलै जननी बात
हमते तू तौ कहा कहँतिऐ चलौ हमारे साथ ।

३२--अब चलिवे की नांइ अबऊ मति आस लगाओ
सबु दलु तुम भगि जाउ पास मति मेरे आओ
बार बार तुमते कहूँ बचन कहूँ समुझाइ
कलकत्ता की काली बनि गई सबरे घार कूँ जाइ ।
अरी मेरी आदियमाती ।

इस समस्त लोक-साहित्य पर दृष्टि डालने से विदित होता है कि जहां रामकथा का एकरूप तो वह प्रचलित है जो हमें साहित्य में भी मिलता है, जो बाल्मीकि और तुलसी की परम्परा का है, वहां एक दूसरा रूप भी मिलता है जिसे उसका लोक-रूप ही कहा जा सकता है और यह यथार्थ है कि इस लोकरूप को लोकगीतों ने जितनी हार्दिकता और शक्ति के साथ रखा है, उतना मनीषी रूप को नहीं रखा । इस लोक-रूप की रामकथा का सार यह है :—

दशरथ के सन्तान नहीं थी तो उन्होंने पंडित बुलाये । पंडितों ने कहा—संतान भाग्य में है नहीं । तब माली बुलायें गये । उन्होंने औषधियां दीं, जिससे सभी रानियों के पुत्र हुए ।

उधर राजा जनक के यहां अकाल पड़ा, जनक न हल चलाया तो सीता पैदा हुई, पर लोक और बात मानता है कि सीता भाट के बेटी थीं । राम शिकार को गये, प्यास लगी तो ताल के किनारे भाट की बेटी सीता से भेंट हो गयी ।

सीता जी एक बार घर लीप रही थीं तो धनुष या परशुराम का वाण रखा हुआ था । उसे उठाकर उन्होंने वह स्थान लीप दिया और वाण फिर यथास्थान रख दिया । यह घटना आश्चर्य में डालने वाली थी । माता-पिता दोनों आश्चर्यचकित हुए । तभी उन्होंने धनुष उठाने वाले से सीता का व्याह करने का निश्चय किया । रावण आदि धनुष नहीं उठा सके, राम ने धनुष तोड़ दिया । विवाह हो गया । बनवास हुआ । चित्रकूट पर राम-भरत मिलन हुआ । रावण जोगी बनकर भिक्षा मांगने आया । सीता को हर ले गया, राम ने लंका पर चढ़ाई की । लक्ष्मण के शक्ति लगी । राम ने विलाप किया । हनुमान संजीवनी लेने गये । युद्ध समाप्त होने पर और रावण की मृत्यु के उपरान्त राम

अयोध्या पहुँचे तो सीता ने कहा कि अभी तो आपने रमनियां मारी है, रावण नहीं मारा। रावण के तो दो हजार भुजाएँ हैं और सहस्र शिर हैं, वह पलंका में रहता है। भरत ने राम से कहा कि अब इस बार आप तो अयोध्या में गद्दी पर बैठिये, मैं पलंका जाऊंगा। चरत-भरत और बानर सेना गयी। उसे नाकासुर ने उठाकर अयोध्या में पटक दिया। तब सीता ने बीड़ा उठाया। करतार थक गये। तब सीता उठीं और रावण को खा गयीं, वे पलंका से चल पड़ीं और कलकत्ते में कालीमाई हो गयीं। नारद ने लौट चलने के लिए बहुत प्रार्थना की पर सीता ने कलकत्ते से लौटना स्वीकार नहीं किया।

इसके साथ-साथ साहित्य में प्रसिद्ध वर्णन भी मिलता है जिसमें सीता को बनवास दिया जाता है। बनवास का कारण कई गीतों में बताया गया है—

सीता और उनकी ननद बातें कर रही थीं। ननद ने पूछा—भौजी ! क्या तुमने रावण देखा था ?

हां।

कैसा था, चित्र बनाकर बताइये।

तुम्हारे भाई राम रुष्ट होंगे।

उनसे कौन कहने जाता है।

सीता ने रावण का चित्र बनाया, तभी राम आगये। उन्होंने चित्र देख लिया। सीता को लक्ष्मण के साथ बन भेज दिया। वहां बाल्मीकि की कुटी में सीता रहीं वहीं कुश हुए। लव-कुश खेल रहे थे कि राम-लक्ष्मण वहां शिकार खेलते-खेलते पहुँचे। प्यास लगी, लव-कुश ने पानी पिलाना चाहा। राम ने पूछा कि किनके पुत्र हो ?

सीता के !

पिता कौन ?

नहीं जानते।

राम सीता को देखने चले। सीता ने राम को आते देखा—पृथ्वी से प्रार्थना की। वह फट गयी। सीता को पृथ्वी में समाते देखा तो राम दौड़े, पर उनके हाथ में सीता के केश ही आ सके।

व्रज में प्रचलित राम की लोक-कथा का यह रूप है।

डा० रामकृष्ण गणेश हर्षे

फ्रांसीसी भाषा और भारतीय भाषाएँ

अँग्रेजी विचार प्रणाली से फ्रांसीसी भाषा "परकीय" (foreign) कही जाती है किन्तु भारतीय दृष्टि से फ्रांसीसी अपनी सगोत्री है। यह बात पाश्चात्य भाषा वैज्ञानिक नहीं मानते, किन्तु यही कहना उचित होगा कि वैदिक संस्कृत सब आर्य भाषाओं की आद्य जननी है। यह सबसे प्राचीनतम भाषा है और इसका प्राचीनतम साहित्य ऋग्वेद में विशिष्ट पद्धत्ति से ज्यों का त्यों रखा गया है। संहिता, पद, क्रम, जटा और घन इन सब प्रकारों से कण्ठगत करने के कारण और मुख परंपरा से सुनिश्चित होने के कारण हजारों वर्ष के बाद आज भी इसका हर एक पद सुरक्षित किया गया है और आसेतु हिमाचल वेद में कुछ पाठभेद नहीं है। अगर कुछ हो तो अनुल्लेखनीय है। अखिल संसार में यह मुख परंपरा का आदर्श अद्वितीय है। किसी प्राचीन और अर्वाचीन भाषा का कोई प्रबंध इस प्रकार से प्रचलित नहीं है। ऋग्वेद की भाषा का स्थान इसीलिए बहुत ही महत्वपूर्ण है।

वेदों का काल निर्णय करना अभी तक बहुत जटिल प्रश्न रहा है। किन्तु सुमेरु[1] (Sumerian) कल्दु[2] (Chaldean), आसुर[3] (Assyrian),

---

१. सुमेरु और सुमेर के लोग आर्यवंशीय थे ऐसा माना जाता है।

२. खाल्डियन का यथार्थ नाम 'कल्दु' (Kaldu) है। कोई इनको आर्यवंशीय मानता है और किसी की राय से वे शामवंशीय (Semitic) थे। युरेशिया (Eurasia) के सीमा प्रदेश में प्राचीन ऋषियों के गोत्रनाम उपलब्ध होने के कारण इनका पता अपने पुराने ग्रंथों में मिलने की संभावना है। 'कल्दु' शब्द वर्ण विपर्यय से 'कद्रु' का ही एक रूप होना असंभाव्य नहीं है और अर्बुद काद्रवेय तथा काद्रु पिंगाक्षी दोनों ऋषि नाम अपने प्राचीन वाङ्मय में मिलते हैं। उनमें से अर्बुद काद्रवेय एक नाग ऋषि का नाम है (ऐ० ब्रा० ६.१; शां० ब्रा० २९.१) और काद्रुपिंगाक्षी कश्यप कुलोत्पन्न गोत्रकार है। कश्यप ऋषि की पत्नी कद्रु सर्पों और नागों की जननी है और वे दोनों ही लोक-नाम हैं। कश्यप समुद्र से अदूर कल्दूओं का भी प्रदेश होता है।

३. 'असीरिया' का मूल नाम 'असुर' (Assur) ही है। सुमेरु लोगों का राज्य ई० पू० ४५०० के लगभग उन्होंने लिया और उनकी संस्कृति आत्मसात् की। बाद में कल्दु, बब्री (बाबिलोनी) और पणि (Phoenicians) और उनके सगोत आमोरी, (Amorites), कानानी (Caannanites), आरामी (Araamites) लोगों के साथ मिलकर उनकी एक महत्त्वपूर्ण संस्कृति बन रही थी। ई० पू० सातवीं शताब्दी में उनकी संस्कृति पर्शु लोगों ने (Persians) नष्ट की।

सुर[४] (Syrian) मीन[५] (Minoan) और मिश्र[६] (Egyptian) जैसे अतिप्राचीन संस्कृतिओं के तुलनात्मक अध्ययन से यह प्रश्न हल होने की संभावना होगी। इसलिए भारतीय संस्कृत-पंडितों को इनका अध्ययन करने की बहुत आवश्यकता है।

हमारी प्राचीन परंपरा से ज्ञात होता है कि महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास ने वेदों का संहितीकरण किया और उनकी मुखपाठपद्धति भी शुरू की। व्यासजी भारतीय युद्ध के समकालीन थे और भारतीय युद्ध के काल[७] के निर्णय के लिए ई० पू० ६२४७ से ११५१ तक की अवधि के संबंध में आपस में खींचातानी हो रही है। ऑक्सफर्ड के बोडन संस्कृत प्रोफेसर टी० बरो ने ऋग्वेद का काल[८] ई० पू० लगभग १००० वर्ष तक सीमित किया है। किन्तु यह स्वीकार करना तर्कसंगत नहीं होगा। वैदिक आर्यों का यूरोप और एशिया के सीमा प्रदेश में निवास स्थान मानना ही पड़ता है। क्योंकि यहाँ से सब आर्य कुटुम्ब की शाखाएँ यूरोप, अफ्रीका और एशियाई देशों की ओर चली गईं ऐसा प्राचीन इतिहास से पता लगता है। बोगास कॉई (Boghas-Keui) के प्राचीन अवशेषों में हेति (Hittites) और मैत्रायणी (Mitanni) राजाओं के बीच में जो तहनामा ई० पू० लगभग १३७० में हुआ था वो प्राप्त हुआ है। इसमें इन्द्र, वरुण, नासत्यादि वैदिक देवताओं का उल्लेख आया है और इसकी भाषा में भी काफी अपभ्रष्ट संस्कृत शब्द मिलते हैं। पाश्चात्य

४. सीरिया का प्राचीन नाम 'सुर' और 'शूर' था। भूमध्य सागर के पूर्व किनारे का प्रदेश इनका प्रदेश था और इस प्रदेश के ऊपर पणि लोगों का साम्राज्य था।

५. मीन (Minoan) संस्कृति का जन्म क्रीत (Crete, क्रतु ?) द्वीप में हुआ था। इसके अवशेष से ज्ञात होता है की इन लोगों की संस्कृति प्रगतिशील एवं श्रेष्ठ थी और इसका प्राचीनतम काल ई० पू० ४००० वर्ष तक हो सकता है।

६. 'मिश्र'—ईजिप्त का प्राचीन नाम है यह खुद असीरियन रेकॉर्डों में मिलता है। नाग, गृध्र, वरूट, नड, और श्येन लोगों का मिश्रण इसमें हुआ है। ये सब काश्यप ऋषि की संतति है यह कहना आवश्यक है। मिश्र की संस्कृति सबसे प्राचीन (ई० पू० ५०००) समझी गई है।

७. वि० म० (?) लेले—ई० पू० ६२४८; जन्त्रीकार प्रो० बा० ज० मोडक—५०००; इतिहासकार चिं० वि० वैद्य—३१०२; वराहमिहिर और कल्हण—२४३७; ज० स० करंदीकर—१९३६; लो० तिलक और "भारतीय ज्योतिष शास्त्र का इतिहास" ग्रन्थ के लेखक शं० बा० दीक्षित—१५००; वल्लंडी अय्यर—१२९३; रमेशचंद्र दत्त—११९८; दप्तरी—११९७; डॉ० सीतानाथ प्रधान ११५१—भारतवर्षीय प्राचीन चरित्रकोश—सि० वि० चित्राव, पृ० ६६१।

८. The Sanskrit Language—T. Burrow. "The earliest document of the linguistic history of Indo-Aryan is the Rgveda, which, by rough guess-work, is placed in the region of 1000 B. C."—पृ० ३.

पंडितों ने इसको इंडो-आर्यन कोलोनी माना है। किन्तु फ्रिगिया (Phrygia-भृगिया) की प्राचीनतम भाषा वैदिक संस्कृत के समान थी ऐसा प्रो० साइस ने उल्लेख[९] किया है। इसलिये वहाँ कोलोनी होने की संभावना नहीं है किन्तु संस्कृत का रहा हुआ अवशेष इसमें मिलता है। इससे ज्ञात होगा की वैदिक संस्कृत इस प्रदेश में कई सहस्र वर्षों के पहले ही प्रचलित थी। मैंने इस विषय में जो कुछ अनुसंधान किया है[१०] उसका तात्पर्य यह है कि ई० पू० ४५०० के आस पास—असुरों के द्वारा सुमेरु लोगों का राज्य डुबाने के समय—आर्य लोग यहाँ से ईरान और हिन्दुस्तान की ओर चले गये। मेरी राय से व्यास जी का काल ई० पू० ३००० से कम होने की संभावना नहीं है और चि० वि० वैद्य ने

---

९. "In other words, in the 15th and 14th centuries B. C. what we call Sanskrit was spoken in Asia minor and Mesopotamia." Prof. A. H. Sayee: The Early Home of Sanskrit"—Dr. Modi Memorial Volume, 1930, p. 69.

१०. (१) करीब ८० आयुर्वेदीय औषधियों का असुर देश में उपयोग किया जाता था (Introduction to 'Sivakośa' of Siva-Datta Misra, Deccan College. Poona).

(२) सायप्रस के उत्खनन में मिली हुई ऋषभदेव की मूर्ति ई० पू० १५०० की है जिसके संबंध में ३००० ई० पू० का इतिहास वैदिक साहित्य तथा फिनीशियन इतिहास में प्राप्त होता है। (Historic Importance of the Bronze Statue of Reshef discovered in Cyprus, D. C. R. I. Bulletin, Poona).

(३) सुमेरु, कल्दु, आसुर शब्दों की मराठी में प्राप्ति और इन लोगों का वास्तव्य भारत में होने की संभावना (Some Marathi-Sumero Correspondences, Ibid).

(४) कल्दु भाषा में वैदिक सौर सूक्तों की स्मृतियाँ, जिसमें ६२/६६ शब्द वैदिक संस्कृति से निकले हुए दिखाई देते हैं। (Vedic Reminiscences of a Chaldean Sun-Hymn, Ibid).

(५) यहूदी लोगों का ईश्वर Yahveh (वै. यह्व) का वर्णन सब प्रकार से ऋग्वेद के अग्नि देवता का ही है (Yahu, Yahweh and Jehovah-Bharatiya Vidya).

(६) वैदिक एक सौ आठ व्यक्ति और स्थान नामों की असुर लेखों में संप्राप्ति—(Vedic Names in Assyrian Records, Adyar Library Bulletin).

(७) आर्यों के निवास-स्थान में मिश्र से अप्सराओं का आगमन—(A New Interpretation of the word Apsaras—in press).

ज्योतिष शास्त्र के आधार पर भारतीय युद्ध का काल ई० पू० ३१०२ दिया है वही सही है ।

यूरोपीय आर्यों का इतिहास ई० पू० १५०० के पूर्व नहीं जा सकता और सबसे प्राचीन ग्रंथ ई० पू० नवीं शताब्दी में रचा हुआ होमर का इलियड है । संस्कृत से घनिष्ट सम्बन्ध होने के कारण यूरोपीय लोग अपने को और अपनी भाषाओं को आर्य कहने लगे हैं । किन्तु वैदिक संस्कृत को सब आर्य भाषाओं की आद्यजननी मानने को तैयार नहीं हैं । उन्होंने सब यूरोपीय, ईरानी और संस्कृत भाषाओं से विविध शब्दों का रूप देखकर एक अपनी आद्यभाषा तैयार की है । इसका प्रमुख कारण कदाचित यह है कि ये वेदों का काल अधिक प्राचीन नहीं समझते । न केवल भाषा-शास्त्र किन्तु उक्त प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन से यह मानना पड़ेगा कि वैदिक संस्कृत ही आर्यों की आदि भाषा है । इस विषय के ऊपर दूसरी ओर से प्रकाश डालने का प्रस्तुत निबन्ध का प्रमुख उद्देश है। आर्य भाषाओं के आद्य जननी का विवाद छोड़कर आप जान सकते हैं कि वैदिक संस्कृत से अभिजात (Classical) संस्कृत, ग्रीक, लातीन, गेलिक, टचूटनिक, स्ला०होनिक, इत्यादि भाषाएँ घनिष्ट रूप से सम्बन्धित हैं । संस्कृत और आधुनिक आर्य भाषाओं के बीच में जैसी प्राकृत -अपभ्रंश भाषा उत्पन्न हो गई थी वैसी ही अवस्था ग्रीक, लातीन आदि भाषाओं के विकास में दिखाई देती है । फ्रान्सीसी भाषा मुख्यतः लातीन से ही निकली है । अभिजात लातीन का अपभ्रंश लो लातीन और रोमान (Romane) भाषा से इतालियन, रूमानियन, फ्रान्सीसी, स्पेनिश तथा पोर्तुगीज भाषाएँ निकली हैं । इसलिए इन सबको रोमान्स भाषाएँ (Romance Languages) कहा जाता है । वे भारतीय वर्तमान आर्य भाषाओं के समकक्ष हैं । इनका उद्गम और विकास भी नवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक हुआ है । इस अवधि में, यद्यपि फ्रान्स और भारत में पाँच छ हजार मील का अन्तर है, तथापि हिन्दी और फ्रान्सीसी तथा फ्रान्सीसी और अन्य भारतीय आर्य-भाषाओं का परस्पर संबंध वास्तव में बहुत दूर का नहीं रहा है । इसका एक ही कारण है कि आर्य-वंशीय होने के कारण उसकी मूल भाषा संस्कृत ही थी और संमिश्रण, अपभ्रंश इत्यादि विकृति-विकास परम्परा से उसका प्रस्तुत रूप हो गया है ।

फ़ान्स के आदि निवासी कौन थे इसका इतिहास उपलब्ध नहीं है । फ्रांस की प्राचीन संज्ञा गोल (Gaule) थी और उसके लोगों का नाम (Gaulois गोल्वा) था । गोल्वा और गेल (Gael) लोग, साहसप्रिय थे और वे न केवल फ्रांस किन्तु मध्य यूरोप, जर्मनी, स्पेन, ग्रेट ब्रिटेन और आयरलैंड तक बिखरे हुए थे । इतिहास के पूर्व काल से ही इनका परिवर्तित रूप में सर्वत्र विस्तार हुआ था और वर्तमान काल में भी उनके वास्तविक और परिवर्तित रूप में भाषा और संस्कृति आयरलैंड, स्काटलैंड, और फ्रांस के ब्रतान्य (Bretagne) में अवशिष्ट है । गोल्वा का अधिराज्य ई० पू० पहली शताब्दी में रोमन लोगों ने खतम कर दिया और रोमन साम्राज्य से लातीन भाषा का आक्रमण गोल पर हुआ । न केवल राजकीय किन्तु उद्योग-व्यापार की भाषा भी कुछ काल तक लातीन ही थी किन्तु कुछ शतकों के बाद इसका गालो-रोमान (Gallo-romane) में परिवर्तन हुआ । ईसा बाद

चौथी और पाँचवी शताब्दी में आर्यवंशीय फ़्रॉक लोगों का वहाँ आगमन हो गया। फ्रॉक लोग जर्मनी से आ गये। उनके प्रमुख गोत्रज ब्रुक्तेऽर (Bructeres), केरुस्क (Cherusques), सीकाम्ब्र (Sicambres) सालीन (Salien) थे। ये सब आर्य-वंशीय जर्मन थे और उनका धर्म द्रुइद (Druid-द्रविड़ ?) लोगों का धर्म था। गोल्वा भी उनके सहधर्मी थे। फ्राँकों का राजा क्लोव्हिस ने प्रथम ईसाई धर्म को स्वीकार ४७६ ई० में किया। उस समय दक्षिण फ्राँस में मध्य यूरोप से आए हुए जर्मनवंशीय व्हीझी-गोथ (Wisi-Goths) और व्हाँदाल (Vandales) लोगों का राज्य था और उत्तर फ्राँस में भी एक छत्र राज्य नहीं था किन्तु भिन्न-भिन्न बोलभाषा भाषी वर्गों का समूह था। ग्यारहवीं से चौदहवीं शताब्दी तक फ्राँसीसी भाषा का विकास काल था। केवल १४९८ ई० में फ्राँसीसी सारे देश की एक भाषा हो गई। पुनर्विकास के काल में (Renaissance) ग्रीक भाषा का अध्ययन फ्रांस में विशेष रूप से हो रहा था और ग्रीक शब्द और वाङ्मय बहुत लोकप्रिय होने के कारण फ्राँसीसी में ग्रीक शब्दों का भारी आयात पंद्रहवीं शताब्दी के बाद हुआ।

यह ऐतिहासिक दृष्टि से ज्ञात होता है कि फ्राँसीसी का निर्माण गोल्वा, लातीन, रोमान, फ्राँक और जर्मन वंशीय अन्य भाषाओं से हो रहा है और वे सब लोग मूलतः आर्यवंशीय थे। इसके कारण वैदिक संस्कृत और संस्कृतोत्पन्न अन्य आर्य-भाषाओं का फ्राँसीसी से आन्तरिक सम्बन्ध होने की संभावना होती है। यह सम्बन्ध सामान्यतः ऐसा हो सकता है:—

वैदिक संस्कृत (ई० पू० ५००० से ३५००)

१२ लातीन ई० पू० ७००	अभिजात संस्कृत (ई० पू० ३०००)
लो लातीन-रोमान (ई० पू० १००—ई० ७००)	प्राकृत-अपभ्रंश (ई० पू० १०००-१००० ई०)
फ्राँसीसी, इतालियन, ई० (१००० ई० के अनंतर)	हिंदी, मराठी (१००० ई० के अनंतर)

अभिजात लातीन साहित्य का प्रारंभ ई० पू० तीसरी शताब्दी से हुआ है और फ्राँसीसी का (जिसमें लातीन, रोमान, फ्राँक, जर्मानीक इत्यादि भाषाओं के प्रभाव से जो कुछ परिवर्तन शतकानुशतक हो रहा था) प्रारंभकाल देखकर संस्कृत और संस्कृतोत्पन्न आर्य भाषाओं में और फ्राँसीसी में साम्य की संभावना आश्चर्यजनक हो सकती है। किन्तु वह सचमुच है या नहीं ये नीचे लिखे हुए प्रमाण से निर्धारित होगा।

(१) संस्कृत से परिवर्तित होते होते जिस प्रकार हिंदी के व्याकरण में सरलता आई है उसी प्रकार फ्राँसीसी में भी सरलता आई है। लातीन की अपेक्षा उसका व्याकरण बहुत ही सरल है। द्विवचन हिन्दी और फ्राँसीसी दोनों में लुप्त हो गया है। नपुंसक लिंग फ्राँसीसी में भी नहीं है। इसके कारण शब्दों के लिंग पहचानने की परेशानी कम हो गई

है। प्रत्यय के अनुसार शब्दों का स्त्रीलिंग और पुंल्लिग समझने की सुविधा जितनी फ्राँसीसी में है उतनी हिंदी में नहीं। किन्तु हर एक भाषा में इस विषय म कुछ न कुछ कठिनाई होती ही है।

(२) व्याकरण के विषय में जो अष्टविध विभाजन (Parts of Speech) होता है उसके वाचक शब्दों में जो साम्य है वह इस प्रकार है!

फ्राँ०. Nom (नों)>लातीन, Nomen> सं० नामन् <हिं-म.गु.इ० नाम। फ्राँ०. Pronoun (प्रोनों) = नाम के लिये; सं० सर्वनाम = सब के लिये नाम इतना ही अन्तर है।

फ्राँ० Adjectif (आद्जेक्तीफ़) और विशेषण मे शब्द साम्य नहीं है किन्तु अर्थसाम्य अवश्य है। फ्राँ० Adverbe (आद्व्हेर्ब) और क्रिया विशेषण का वैसा ही अर्थ है। फ्राँ. Verbe (व्हेर्ब) लातीन के Verbum से आया है और उसका अर्थ केवल शब्द ही है। किंतु क्रियादर्शक पद और शब्द को ही आप क्रियापद (Verbe) कह सकते हैं। फ्राँसीसी Preposition (प्रेपोझिस्यों)—सम्बन्ध सूचक—Conjonction (कोंजोंक्स्यों)—समुच्चय बोधक—और Interjection (अँतर्जेक्स्यिों) —उद्गार वाचक और विस्मय-बोधक शब्दों का अन्तर्भाव हमारे यहाँ अव्यय वर्ग में होता है।

(३) संस्कृत में धातुवाचक शब्दों का दस प्रकार का गण बनाया गया है किन्तु हिंदी में इसका कुछ अवशेष नहीं है। परन्तु फ्राँसीसी में सब क्रियापदों का अन्तर्भाव चार गणों में हुआ है और उसका विभाजन अन्त्याक्षरों पर अवलंबित है। जैसे:—er गण, re गण, ir गण और-oir गण। बहुत अनियमित होने के कारण फ्राँसीसी में क्रियापद प्रक्रिया काफी जटिल है, वैसी हिंदी में नहीं है।

(४) संख्या वाचक शब्दों में फ्राँसीसी और हिन्दी का साम्य बहुत अधिक दिखाई देता है।

१. फ्राँ. un (अँ) >ला० unum (उनुम्)>प्रा० एअम्-एओ>सं० एकम्-एकः< हिन्दी, मराठी एक।

२. फ्राँ० deux (दऽऽ) >ला० duo (दुओ)>सं० द्वा, द्विः द्वौ< हिन्दी-दो।

३. फ्राँ० trois (त्र्वा) >ला० tres (त्रेस)>सं० त्रिः <त्रीणि<तीन—हिन्दी, मराठी आदि।

४. फ्राँ० quatre (कात्र)>ला. quatuor (कातुओर)>सं० चतुर्, चत्वारि< चत्तारि, चत्तारो<हिन्दी, मराठी—चार।

५. फ्राँस cinq (सँक)>ला० quinque (क्विन्क्वे) >इतालीयन Cinque (चिन्क्वे)>सं० पञ्च<हिन्दी, मराठी-पाँच।

६. फ्राँ० six (सीस)>ला० sex (सेक्स)>सं० षष्ट्<हिन्दी-छः, मराठी—सहा।

७. फ्राँ. Sept (सेत्त)>ला. septem (सेप्तेम)>सं० सप्त<प्रा. सत्त<हिन्दी-मराठी- सात ।

८. फ्राँ. huit (वीत)>ला. Octo (ओक्तो)>सं० अष्ट<हिन्दी-आठ ।

९. फ्राँ. neuf (नऽफ)>ला. novem (नोव्हेम)>सं० नव<हिन्दी-नौ, मराठी-नऊ ।

१०. फ्राँ. dix (दीस)>ला. decem (देसेम)>सं० दश<हिन्दी-दस ।

११. फ्राँ. onze (ओंझ)>ला. undecim (उन्देसीम)>सं० एकादश<हिन्दी-एगारह—ग्यारह ।

१२. फ्राँ. douze (दूझ)>ला. duodecim (दुओदेसीम)>सं० द्वादश<हिन्दी-बारह ।

१३. फ्राँ. treize (त्रेऽझ)>ला. tres-decim (त्रेस् देसीम)>सं० त्रयोदश हिन्दी तेरह ।

१४. फ्राँ. quatorze (कातोर्झ)>ला. quatuor-decim (क्वातुओर-देसीम) < सं० चतुर्दश<हिन्दी -चौदह ।

१५. फ़्राँ. quinze (कँझ)>ला quindecism (किन्देसीम)>सं० पंचदश> हिन्दी- पन्द्रह ।

१६. फ्राँ. seize (सेऽझ)> ल. sedecim (सेदेसीम)>सं० षोडश<हिन्दी-सोलह ।

१७. फ्राँ. dix-sept (दीसेत्त)>(शब्दविपर्यय से) सं० सप्तदश<हिन्दी- सत्रह ।

१८. फ्राँ. dix-huit (दीज्वीत)>(शब्दविपर्यय) सं० अष्टदश<हिन्दी-अठारह ।

१९. फ्राँ. dix-neuf (दीज्नऽफ)> (शब्दविपर्यय) सं० नवदश और एकोनविंशति और ऊनविंशति>हिन्दी-उन्नीस ।

२०. फ्राँ. vingt (व्हँ)> ला. vigintis (व्हिगिन्तीस)>सं० विंशति<हिन्दी-बीस; मराठी-वीस ।

३०. फ्राँ. trente (त्राँत)>ला. triginta (त्रिगिंता)>सं० त्रिंशत्<हिन्दी-तीस ।

४०. फ्राँ. quarante (काराँत)>ला. quadraginta (काद्रागिन्ता)>सं० चत्वारिंशत्<हिन्दी-चालीस ।

५०. फ्राँ. Cinquante (सँकॉन्त)>ला. quinquaginta (किन्कागिन्ता)>सं० पंचाशत्<हिन्दी-पचास ।

६०. फ्राँ. Soixante (स्वासाँत)=सं० षष्टि<हिन्दी-साठ इसमें Soix=षष् और ante=ति इतना ही अन्तर है ।

७०. फ्राँ. Septante (सेत्ताँत) —प्राचीन रूप=सं० सप्तति>हिन्दी-सत्तर ।

८०. फ्राँ. Octante (ओक्ताँत) —प्राचीन रूप=सं० अशीति हिन्दी-अस्सी संस्कृत में कदाचित् 'अष्टति' का अशीति हो गया है ।

९०. फ्राँ. nonante (नोनाँत) — प्राचीन रूप = सं० नवति । फ्राँसीसी में कुछ अन्तर हो गया है । neuvante (नव्हाँत) होने के बजाय 'नोनाँत' जैसे अनियमित रूप हो गया है ।

१००. फ्राँ. Cent (साँ) > ला. Centum (सेन्टुम) > सं० शतम्, शत < हिंदी-सौ, शत.

इन शब्दों के तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात होगा कि फ्राँसीसी के कुछ रूप हिंदी से भी अधिक संस्कृत के समीप हैं ।

(५) पुरुष वाचक सर्वनामों में भी कुछ न कुछ साम्य है—फ्राँ. je (ज) अर्थ (में) लातीन के ego का बारहवीं शताब्दी का परिवर्तित रूप है और ध्वनि शास्त्र से ego का सं० अहम् के साथ सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है । परंतु फ्राँसीसी tu (त्यु) हिंदी 'तू', 'तू' ही है और लातीन tu (तु) संस्कृत 'त्वम्' से सम्बन्धित है । फ्राँ. nous (नू) हिन्दी के 'हम' से अधिक और फ्राँ. vous (व्हू) हिन्दी 'तुम' से अधिक संस्कृत पर्याय रूप नः और 'वः' से क्रमानुसार सम्बन्धित हैं । तृतीय (प्रथम) पुरुष के लिये फ्राँसीसी शब्द भिन्न है । स्त्रीलिंग का elle (एल्ल) और पुल्लिंग का il (ईल) शब्द एकवचन के लिए हैं । बहुवचन के लिये —s प्रत्यय लगता है किन्तु उच्चारण में कुछ फर्क नहीं आता । हिंदी में दोनों लिंग के लिये एक ही शब्द होते हैं 'यह' एकवचन में और 'वे' बहु वचन में । Il और elle लातीन के illum (इल्लुम्) और ellam (एल्लम्) से निकले हैं । हिंदी 'यह' की व्युत्पत्ति डॉ० होर्नले और डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने सं० 'एतद्' के 'एषः, एते, एतानि' से की है और डॉ० चटर्जी भी उनसे सहमत हैं । परंतु फ्राँसीसी il और elle का संबंध कदाचित् संस्कृत 'इदं' के 'अयम्, इयम्' से ही होगा. 'il' का 'य' होने की उच्चारण प्रवृत्ति फ्राँसीसी में प्रचलित है । किन्तु लातीन illum का उच्चारण 'इय्युम्' हो सकता है या नहीं ये मालूम नहीं । लातीन की उच्चारण पद्धति के विषय में परंपरागत निश्चित ज्ञान नहीं है । फ्राँसीसी moi (म्वा) (हिन्दी-मैं) और toi (त्वा) के सदृश मराठी में 'म्वां', 'म्याँ' और 'त्वा' ऐसे ही रूप उस कार्य में ही देहातों में उपलब्ध होते हैं ।

(६) प्रश्नवाचक सर्वनामों में भी ऐसा साम्य मिलता है ।—फ्राँ. qui (की) > ला. qui > सं. किम् (कः, का, किम्) < हिन्दी—कौन; फ्राँ. que (क) > ला. quem (केम्) > सं. किम् < हिन्दी—कौन सा अनिश्चयवाचक सर्वनाम में फ्राँ. quelqu'un = हिंदी कोई; quel लातीन qualis (क्वालीस) से आया है और संस्कृत प्रतिशब्द कोऽपि होगा; फ्राँ. quelqu'un = हिन्दी 'कोई' एक; फ्राँ. autre (ओत्र) > ला. alter (आल्तेर) > सं. इतर < मराठी हिन्दी—इतर. पुरानी मराठी में 'इतर' का 'एर' रूप मिलता है । उद्‌गारवाची शब्दों में फ्राँसीसी quoi ! que—हिन्दी 'क्या' के समान हैं ।

(७) विशेषणों में विशेष्य का लिंग वचन और क्रिया पदों के रूप का जो अनुसरण हिन्दी में और मराठी में होता है वैसा ही फ्राँसीसी में दिखाई देता है। केवल फ़्राँसीसी में तृतीय (प्रथम) पुरुष स्त्रीलिंग और पुल्लिग में क्रियापद का रूप एक ही रहता है, अँग्रेजी में ऐसा नहीं है। वहाँ केवल वचनों के अनुसार क्रियापद का और नाम का रूप बदलता है। उदाहरण—

१ एकवचन हिन्दी—एक अच्छा घोड़ा आता है।
पुंल्लिग मराठी—एक चांगला घोड़ा येतो।
फाँसीसी—un **bon** cheval vient.
(अं बों शव्हाल व्हियँ)।
अंग्रेजी—a **good** horse comes.

२ एकवचन : हिन्दी—एक अच्छी गाय आती है।
स्त्रीलिंग मराठी—एक चांगली गाय येते।
फ्राँसीसी—**une bonne** vache vient
(युन बोन्न व्हाश व्हियँ।
अंग्रेजी—a **good** cow comes.

३ बहुवचन:—हिन्दी—कुछ अच्छे घोड़े आते हैं।
पुंल्लिग मराठी—काहीं चांगले घोड़े येतात।
फ्राँसीसी—des bons chevaux viennent.
(दे बों शव्हो व्हिए न)
अंग्रेजी some good horses come

यहाँ हिन्दी, मराठी और फाँसीसी में विशेषण वाचक शब्दों के रूप अच्छा, अच्छी अच्छे; चांगला, चांगली, चागले; bon, bonne, bons विशेष्य के लिंग और वचन के अनुसार विभिन्न हो गये हैं। किन्तु अंग्रेजी में एक ही good शब्द तीनों ही उदाहरणों में अविचल है।

(७) क्रिया विशेषणों में भी कुछ साम्यदर्शक शब्द मिलते हैं। उदा०—फ्राँ. ainsi (अँसी)>ला. in sec (इन्सेक) सं० अमुत: हिन्दी—ऐसा, (=इस रीति से); फ्राँ० comme (कोम)>ला. (cum)=हिन्दी क्योंकि; फ्राँ. autant (ओताँ)> ला. (alterum)>सं० इयत्तम्<हिन्दी-इतना; नकारात्मक फ्राँ. ne, (न) non (नों)<ला. non (नोन)>सं० न, नो < हिन्दी न., मराठी-न, ना।

(९) फ्राँसीसी में लातिन से आये हुए उपसर्ग (Prefix) के विषय में यह साम्य पाया जाता है। नकार दर्शक सामासिक शब्दों में अंग्रेजी un के जगह फ्राँसीसी में in—

im–il आते हैं (आगे m और l आने के कारण n का m और l होता है। 'न' से शुरू होने वाले शब्दों का उच्चारण in, im से अधिक सरल होता है। कभी-कभी in के बदले non का भी नकारात्मक उपयोग किया जाता है। उदाहरण: in-justice (अँज्युस्तीस), in-covenient (अँको०हेनियँ), im-mortel (इम्मोर्तेल) immémorable (इम्मेमोराब्ल); il-légal (इल्लेगाल), il-limitable (इल्लिमिताब्ल) non-chalant (नों शालाँ), non-combattant (नोंकोम्बात्ताँ) ई०। संस्कृत में नकारात्मक शब्द 'न' और 'नो' होने पर भी बहुसंख्या में 'अ' और 'अन्' से सामासिक रूप बनाते हैं। उदा० सं० 'अग', 'अज्ञान,' 'अनभिषिक्त' (हिन्दी और मराठी में वैसे ही हैं)। क्वचित् 'नी' से भी नकारार्थक शब्द होते हैं। जैसे: 'नीरव', 'नीरस', 'नीरोग'। फ्राँसीसी में भी a (आ) प्रत्यय का अर्थ "दूर, विभक्त" होता है। उदा० a-bandon (आबाँदों) = बन्धन से दूर, विमुक्त। संस्कृत में "आ" का अर्थ "पूर्ण" होता है। उदा० आकृष्ट, आलीन। फ्राँसीसी मे भी ऐसा अर्थ प्रतीत होता है। उदा० abattre (आबात्र)। battre (बात्र) का अर्थ पीटना और abattre का अर्थ पूर्णत: नष्ट करना, ठार करना। फ़्राँसीसी ab > ला० ab और सं० अप एक ही हैं। उदा० ab-normal (आब्नोर्माल); सं० अपसारित। फ्राँसीसी-लातीन ad (ac, af, al) आद् प्रत्यय का अर्थ दिशा और उद्देश होता है। और संस्कृत में 'अधि' का उपयोग वैसा ही होता है। उदा० admettre, (आद्मेत्र) adverbe; (आद्०हेर्ब), affronter, (आफ्रोन्ते), accéder (आक्सेदे), allier (आल्लीए)। सं० अधिगत, अधियज्ञ, अधिराज्य, इ०। फ्राँसीसी में ग्रीकों से जो शब्द anti (विरुद्ध) उपसर्ग के आये हैं वे सब संस्कृत में 'अन्' से मालूम होते हैं। लातीन के ante और anti (=पहले ,पूर्व) संस्कृत में कौन से रूप में है यह सोचना चाहिये। फ्राँसीसी co, col, com, con (सहार्थी) संस्कृत के 'स' और 'सम्' से ही आये हैं। उदा० co-opération, (कोओपेरास्यों) col-laborer, (कोल्लाबोरे) comparer, (कोम्पारे) con-centrer (कोसाँत्रे)। सं० संदेह, संसक्त इ० फ्राँसीसी dis, dé, des उपसर्गों का अर्थ 'विरुद्ध, विभक्त, नीचे', ऐसा होता है। उनका कदाचित संस्कृत के अधस् से सम्बन्ध होगा। उदाहरण—disloquer (दीस्लोके), démembrer (देमाँब्रे), descendre (देसाँद्र)। संस्कृत—अध:पतन। किन्तु इसमें फ्राँसीसी उपसर्गों का पूर्ण अर्थ प्रतीत नहीं होता। फ्राँ० inter (अँतर) और entre (आँत्र) संस्कृत 'अन्तर्' का ही रूप है। फ्राँ० en, em (आँ) का अर्थ "दूरी" होता है और संस्कृत में अनु उपसर्ग से वैसा ही अर्थ मिलता है। उदाहरण—enlever (आँलव्हे)—ऊपर उठाना, ले जाना; emporter (आँपोर्ते)—दूसरी जगह ले जाना; सं० अनुचर; अनुदिन। फ्राँ० para उपसर्ग ग्रीक से आया है। इसका अर्थ 'संबंधी' और 'अतिरिक्त' होता है। संस्कृत "परं" और 'पर' से उसका सम्बन्ध होगा। उदा० paradoxe (पाराडोक्स) paraphrase (पाराफ्राफ्ज़) सं०—परंपरा, परसवर्ण, परपुरुष। फ्राँ०—peri (ग्रीक), अर्थ—चारों ओर, निकट; उदाहरण perimetre

(पेरिमेत्र), periphrase (पेरिफ्राज) संस्कृत में उसका पर्याय 'परि' होगा। उदाहरण—परितोष, परिचारक, इ०।

फ्रां० Pré (प्रे) सं 'पूर्व' का और pro (प्रो) सं 'प्र' का पर्याय है। उदाहरण Préjugé (प्रेज्युजे) सं० हिन्दी– पूर्वग्रह; Progrés (प्रोग्रे) सं० हिन्दी—प्रगति

फ्रां० syn, sym (ग्रीक)—सहार्थी उपसर्ग संस्कृत 'सम्' के समान हैं। उपसर्ग के विषय में इतनी चर्चा काफी है।

(१०) प्रत्यय (suffix) के बारे में भी वही साम्य मिलता है। उदाहरणत: भाववाचक नाम बनाने के लिये फ्रांसीसी में जो té (ते) प्रत्यय है वैसा संस्कृत में 'ता' प्रत्यय है। उदाहरण—beauté (बोते)—सुन्दर-ता; bonté (बोंते)—सुजन-ता। मूल और उद्गम वाचक शब्दों का फ्रांसीसी प्रत्यय ain (अँ), aine (अेऽन) पुंल्लिग और स्त्रीलिंग के लिये है। उदाहरण Romain (रोमँ), Romaine (रोमेऽन)। संस्कृत में उनके लिये 'आयन' (पुं) और 'आनी' होते हैं। जैसे: काण्वायन, लामकायन; भवानी, इन्द्राणी, मुद्गलानी।

व्यवसायदर्शक संस्कृत प्रत्यय 'कार' है। उदाहरण—कुम्भकार (हि० कुम्भार), सुवर्णकार (हि०—सोनार)। फ्रांसीसी में संस्कृत 'कार' और हिन्दी 'आर' के जगह पु० er, ier स्त्री० ére. iére आते हैं। उदाहरण: boulanger (बूलांजे—रोटीवाला)—boulangére (बूलांजेऽर); épicier (एपीस्ये—पंसारी), cuisiniére (क्वीझीन्येऽर—खाना पकाने वाली)।

फ्रांसीसी ie प्रत्यय गुण और स्थितिदर्शक शब्दों के लिये प्रयोग में आता है। उदाहरणार्थ—énergie (एनर्जी), उत्साह। maladie (मालादी) रोग। संस्कृत में भी 'इ', और 'ई' प्रत्यय होता है। जैसे—स्मृति, बुद्धि, नदी (शब्द करने वाली), कल्याणी, राजधानी, इ०।

और भी, फ्रांसीसी में गुण और स्थिति दर्शक esse प्रत्यय हैं। उदा० richesse (रीशेस्स-सम्पन्नता)। संस्कृत में उसका पर्याय पुंल्लिग में 'श' और स्त्रीलिंग में 'शा' होता है। फ्रांसीसी esse प्रत्यय स्त्रीलिंग का ही है। संस्कृत के उदाहरण: लोमश (बहुत बाल होने वाला), लोमशा (स्त्री); कपिश (कत्थई रंग का), कपिशा (स्त्री.)

विशेषण बनाने वाले प्रत्ययों में भी कुछ साम्य होता है। उदा० पुं० mondain (मोंदँ) = ऐहिक; स्त्री. mondaine संस्कृत में उसके "न" और "नी" प्रत्यय होते हैं। जैसे = पुराण—पुराणी; रमण—रमणी।

फ्रांसीसी ique (इक) = संबंधी, उदा०—chimique (शीमीक)—रसायन शास्त्र विषयक; phonémique (फोनेमीक)—ध्वनि-विषयक। संस्कृत 'इक' प्रत्यय सुप्रसिद्ध है। उदा०—धार्मिक, वार्षिक इ०।

फाँसीसी al का ही उपयोग विशेषण शब्द बनाने के लिये होता है। उदा०—pastoral (पास्तोराल)—ग्रामीण; floral (फ्लोराल) पुष्पयुक्त; caricatural (कारीकात्युराल) बिडम्बनात्मक। संस्कृत में इसका पर्याय 'ल' और 'वल' होता है। उदा०—वाचाल, फेनिल, ऊर्जस्वल. उपसर्ग और प्रत्ययों के विषय म और भी कुछ लिखा जा सकता है किन्तु दिग्दर्शनार्थं इतना ही पर्याप्त होगा।

(११) सहायक क्रियापदों में फ्रांसीसी être (एत्र) = होना का प्रयोग करते हैं। संस्कृत से संबद्ध होने पर उसके रूपों का भी साम्य होता है। जैसे—

फ्रां (je) suis स्वी > सं० अस्मि; (nous) sommes (सोम्म) > सं० स्मः
,, (tu) es > सं० असि; (vous) êtes (एत) > सं० स्थ
,, (il) est > सं० अस्ति; (ils) sont (सों) > सं० सन्ति

सामान्यतः काकपदात्मक ∧ (circonflexe) आघात चिन्ह फ्रांसीसी में जहाँ-जहाँ होता है वहाँ-वहाँ मूल शब्दों में होने वाला s का वह प्रतीक होता है। जैसे—mâitre (मेत्र) = maistre (पुरानी फ्राँसीसी); hôtel = hôpital (पु० फ्रा०) = रुग्णालय। êtes (द्वितीय पु० बहुवचन) में के बजाय s रखा जाय तो estes का 'स्थ' के साथ साम्य और बढ़ सकता है।

सं० ऋ (जाना) का अर् और अल् भी हो सकता है। (रलयोरभेदः)। और फाँसीसी aller (आल्ले) = जाना वस्तुतः सं० अल् > अर् > ऋ ही है। er प्रत्यय गुणवाचक माना जाय तो मूल रूप 'अल्' ही होगा। यह क्रियापद बहुत अनियमित है। इसके वर्तमान काल एक वचन के रूप भिन्न हैं। जैसे—(je) vais (व्हे,) (tu) vas (व्हा), (il) va (व्हा)। संस्कृत के समान इसमें दूसरी धातु का रूप आया है और यह धातु शायद 'वह्' = बहना है। किन्तु संस्कृत 'ऋ' और 'अर्' का पता aller धातु के भविष्य कालीन रूपों में लगता है। देखिये: (j') irai (ईरे), (tu) iras (ईरा), (il) ira (ईरा)। (nous) irons (ईरों), (vous) irez (ईरे), (ils) iront (ईरों)। ऐसे और कुछ भी उदाहरण दे सकते हैं।

(१२) सब युरोपीय और आर्य भाषाओं में संबंधों के कुछ प्रमुख शब्द समान हैं यह सब जानते हैं। फ्राँसीसी उसमें अपवाद नहीं।

फ्राँ. pére (पेऽर) > ला. pater > सं० पितृ < हिं० पिता
फ्राँ. mére (मेऽर) > ला. mater > सं० मातृ < हिं० माता
फ्राँ. frére (फ्रेऽर) > ला. frater > सं० भ्रातृ < हिं० भ्राता
फ्राँ. soeur (सुऽर) > ला. soror > सं० स्वसृ < म० स्वसा
फ्राँ. gendre (जाँद्र) > ला. gener > सं० जामातृ < म० जामात

(१३) शरीर के अङ्ग प्रत्यङ्गों के फाँसीसी शब्दों में कुछ साम्यदर्शक शब्द मिलते हैं। उदाहरणतः

फ़ाँ oeil (अऽय्य) > ला. occulus > सं० अक्षि। फाँसीसी बहुवचन का शब्द yeux (य्य) है और उसका अक्षि के साथ अधिक साम्य है। फ़ाँ. nez (ने) > ला. nasus > सं० नासा < हिं० म० नासिका। फ़ाँ० genou (जनू) > ला. genu > सं० जानु। हिं० जानू, घुटना। फ़ां० pied (प्ये) > ला० pedis > सं० पद < हिं० म० पद, पाय। फ़ाँ० dent (दाँ) > ला. dentis सं० दन्त < हिं० म० दांत। फ़ाँ. os (ओस) > ला. os > ग्रीक osteon > सं० अस्थि < हिं० म० अस्थि। फ़ाँ. jambe (जाँब) > ला. gamba > सं० जङ्घा < हिं० म० जंघा। फ़ाँ. voix (व्हा) > ला. vax > सं० वक्ष् = बोलना, आवाज करना। फ़ाँ. âme (आम) की व्युत्पत्ति लातीन anima (प्राण, जीवित) से दी गई है। किन्तु वह सं० 'आत्मन्' से देना समुचित होगा।

(१४) विशेषणों में कुछ साम्य : फ़ाँ० jeune (जऽन) > ला० juvenis > सं० युवन् < हिं० म० जवान। फ़ाँ० peu (पऽ) > ला paucum > सं० अल्प < हिं० म० अल्प। फ़ाँ० vieux (व्ह्यऽ) > vetulus > सं० वयस्क। फ़ाँ० mou (मू) > ला० mollis > सं० मृदु > म० मऊ। फ़ाँ० nu (न्यू) > ला० nudus > सं० नग्न। फ़ाँ० tiers (तियेर) > ला० tertium > सं० तृतीय। फ़ाँ० nouveau (नू०हो) > ला० novus > सं० नव। फ़ाँ० suave (स्वाव्ह) > ला० suavis > सं० स्वादु. इसका समानार्थक फ़ाँ० doux (दू) शब्द ही विचारार्ह है।

(१५) फ़ांसीसी में और भी बहुत शब्द ऐसे हैं जो लातीन और ग्रीक द्वारा संस्कृत से ही मूलत: निकले हैं और उसका साम्य हिन्दी मराठी और वर्तमान आर्य भाषाओं में मिलता है। देखिये —फ़ाँ० Chien (शियँ) > ला० Canis > सं० श्वन् —लातीन से भी फ़ाँसीसी का उच्चार साम्य अधिक निकट है। < हिन्दी मराठी-श्वान। फ़ां० Chienne हिन्दी-श्वानी। फ़ाँ० joug (जूग) > ला० jugum > सं० युग < हिन्दी-जुआ; मराठी-जू। फ़ाँ० mort (मोर) > ला० mortuus > सं० मृत (हिं० म०)। फ़ाँ० mourir (मूरीर) > ला० mori > सं० मृ० < हिं० मरना, म०-मरणें। फ़ाँ० prés (प्रेऽ) > ला० pressum > सं० पार्श्वे < म० पार्श्व। फ़ाँ. ni (नी) > ला० nec > सं० न च (बल दर्शक)। फ़ाँ० ou (उ) > ला० aut > सं० उत। फ़ाँ० igne (इग्ने) के साथ होने वाले शब्द igne > ला० ignis > सं० अग्नि उदा०-ignicole (इग्निकोल)। ग्रीक geo (जेओ) से फ़ाँसीसी में आये हुए शब्द, géo > सं० ज्या = पृथिवी; néo — (नेओ) वाले neo > सं० नव; théo (थेओ) > सं० देवो सब संस्कृत के ही हैं। फ़ाँ० don (दों) > सं० दान; फ़ाँ० donner दोन्ने > सं० दा < हिन्दी-देना; फ़ाँ० vent (व्हाँ) > सं० वात, वान्त; फ़ाँ० sonner, son (सोन्ने, सों) > सं० स्वन्; फ़ाँ० acier (आस्ये)-फ़ौलाद > ला० aes > सं० अयस्; फ़ाँ० adorer (आदोरे) > ला० adarare > सं० आ + द; फ़ाँ० ours (उर्स) > ला० ursus > सं० ऋक्ष ∠ म० रीस, हिन्दी-रीछ; फ़ाँ० mois (म्वा) > ला० mensis > सं० मास (हिं० म०); फ़ाँ० roi

(रुवा) > ला० rex > सं० राजन्, राय < हिं० राजा, राय; म०-राय, राव। फ्रां० reine (रेज्न) > ला० regina > सं० राज्ञी < हिं० रानी; म० राणी; फ्रां० gens (जाँ)। > ला० genus > वै० सं० जनस् < हिं० म० जन; फ्रां० terre (तेर) > ला० terra > सं० धरा; फ्रां० mouche (मूश) > ला० musca > सं० मक्षिका; फ्रां० hier (इयेर) > ला० heri > सं० ह्यस् = हिं० कल, म० काल; फ्रां० midi (mi + di); mi > ला० medius > सं० मध्य; di > dies > सं० दिवस; फ्रॉ० serpent (सेर्पाँ) > ला० serpens > सं० सर्प; फ्रां० pousser (पूस्से) > ला० pulsare > सं० पुष् = विकसित करना. संस्कृत से फ्रांसीसी शब्द लातीन से भी निकट है। फ्रां० nid (नी) > ला० nidus > सं० नीड० तात्पर्य, ऐसे सैकड़ों शब्द फ्रांसीसी में हैं जो संस्कृत से ही निकले हैं। उपर निर्दिष्ट प्रमाणों से ज्ञात होगा कि इसमें बिलकुल संशय नहीं है कि फ्रांसीसी और भारतीय भाषाओं में साम्य है। सबसे अधिक प्रमाण यह है कि संस्कृत के समान फ्रांसीसी में भी अन्त्य व्यंजनों की आगामी स्वर से संधि होती है। ऐसा प्रकार दूसरी किसी भी आर्य युरोपीय और वर्तमान आर्य भाषाओं में विद्यमान नहीं है।

फ्रांसीसी तथा संस्कृत में और भी एक साम्य है। संस्कृत के समान फ्रांसीसी भी एक सांस्कृतिक भाषा है। उसी ने बर्बर युरोप को सुसंस्कृत बना दिया। ग्रीक और रोम की संस्कृति नष्ट होने के बाद युरोप में सर्वत्र संस्कृतिहीन बर्बरों का राज्य था। किन्तु खिस्ताब्द नवीं शताब्दी से बीसवीं शताब्दी तक फ्रांस ने अपनी संस्कृति सब देशों को जीवन के विविध क्षेत्र में अपनायी और फ्रांसीसी सारस्वत युरोप में सबसे ऊंचा और समृद्ध है। फ्रांसीसी पंडितों ने भारतीय संस्कृति के विषय में जो महत्त्वपूर्ण परिश्रम किये हैं उनका मूल्यांकन भी अभी तक हुआ नहीं!

श्री कैलाशचन्द्र भाटिया

हिन्दी में अँग्रेजी से गृहीत मिश्र शब्द

इस कोटि में उन शब्दों को सम्मिलित किया जाता है, जिसमें मूल शब्द के साथ कोई अपना सार्थक अथवा निरर्थक प्रत्यय अथवा उपसर्ग जोड़ दिया जाता है।[1]

हिन्दी में अनेक शब्द इस प्रकार के प्रचलित हैं जिनका मूल अपनी भाषा का है और उपसर्ग अथवा प्रत्यय अँग्रेजी भाषा के हैं या मूल रूपमात्र अंग्रेजी तथा उपसर्ग अथवा प्रत्यय हिंदी का है।

।अ। वे शब्द जिनमें मूल रूपमात्र हिंदी का है :—

।अ—१। उपसर्गों द्वारा निर्मित :—१. हेड : हेडपंडित
२. हाफ : हाफकमीज
३. डबल : डबलरोटी

।ब—२। प्रत्यय द्वारा निर्मित :—१.—डम : गुरुडम
२.—इज़्म : बुद्धिज़्म
३.—प्रूफ : झेंपप्रूफ
४.—इस्ट : सनातनिस्ट[2]
५.—आइट : महासभाइट[2]

।ब। वे शब्द जिनमें मूल रूपमात्र अंग्रेजी है :—

।ब—१। उपसर्गों द्वारा निर्मित :—

।ब—१. १। देशी उपसर्ग, जैसे १. स— : सहित : अं० क्लंप : सक्लंप[3]
२. अ— : बिना : अं० लीग : अ-लीगी[4]

---

१. Einar Haugen : The Norwegian Language in America— Vol. I & II Chapter XV (Edition I).

२. ये शब्द भारतीय अँग्रेजी के माने जा सकते हैं।

३. निराला—मुकुल की बीवी, सं० २०१२, पृष्ठ १३।

४. रामचन्द्र वर्मा-'अच्छी हिन्दी' सं० २००७, पृ० ४४।

।ब—१. २। विदेशी उपसर्ग,जैसे, १. बे— : बिना : अं० टिकट : बेटिकट[५]

।ब—२। प्रत्ययों द्वारा निर्मित :—

।ब—२. १। देशी प्रत्यय, जैसे, १. —पन[६] : भाववाचक संज्ञा बनाने के लिए : प्रीमियर : प्रीमियरपन
: कांग्रेस : कांग्रेसीपन

२. —ए[७] : विशेषण बनाने के लिए : मार्क : मार्के

३.—वाला[८] : संज्ञापद बनाने के लिए[९] : गाड़ीवाला, मोटरवाला आदि
तद्धित प्रत्यय कर्तृ अर्थ में
संज्ञाओं के साथ[१०] :

डा० बाबूराम सक्सेना ने[११] इस प्रत्यय पर विचार करते हुए इसका प्रयोग निम्न चार अर्थों में किया है :—

।३. १। कर्तृवाचक	: करने वाला	: वह जो करता है।
।३. २। सम्बन्ध वाचक	: गाड़ीवाला	: वह जो गाड़ी रखता है।
।३. ३। सम्बन्धित	: गाँव वाला	: वह जो गाँव से सम्बन्धित है।
।३. ४। निश्चयार्थक	: छोटा वाला बक्स	: वह छोटा बक्स जो औरों से छोटा है।

---

५. रेल विभाग में विशेष प्रचलित है।

६. डॉ० धीरेन्द्र वर्मा—हिन्दी भाषा का इतिहास, नि० २२३, सन् १९४९, पृ० २४०। डॉ० उदय नारायण तिवारी—हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, नि० २४८, सं० २०१२, पृ० ४२०।

७. 'पते की बातें' के आधार पर 'मार्के की बातें' बना लिया गया।

८. Beams : Comparative Grammar of Mod. I. A. Languages, Vol. III, Sec. 75।
Kellogg : Grammar of Hindi Language Sec. 458।
Turner : Nepali Dictionary under "gwalo"

९. डा० उदयनारायण तिवारी—हिंदी भाषा का उद्गम और विकास नि० २५६ सं० २०१२, पृ० ४२३।

१०. कामताप्रसाद गुरु—हिंदी व्याकरण, संशोधित संस्करण पृ० ४६५।

११. डा० बाबूराम सक्सेना—The Suffixwālā in Modern-Indo-Aryan languages, 7th All India Oriental Conference, Baroda Dec. 1933, Page 175।

अँग्रेजी के प्रचलित शब्दों में उपर्युक्त चारों प्रकार के उदाहरण मिलते हैं :—

।३. १।	फैशनवाली	: वह जो फैशन करती है।
।३. २।	हैटवाला	: वह जो हैट सिर पर रखता है।
	हंटरवाला	: वह जो हंटर रखता है।
	मोटरवाला	: वह जो मोटर रखता है।
	गैसवाला	: वह जो गैस रखता है।[१२]
।३. ३।	डिपोवाला	: वह जो डिपो से सम्बन्धित है।
	होटलवाला	: वह जो होटल से सम्बन्धित है।
	जेलवाला	: वह जो जेल से सम्बन्धित है।
	पलटनवाला	: वह जो पलटन से सम्बन्धित है।
	पुलिसवाला	: वह जो पुलिस से सम्बन्धित है।
।३. ४।	मीलवाला तेल	: वह तेल जो मिल का बना है (कोल्हू का नहीं)
	कम्पटीशनवाला	: वह जो कम्पटीशन से पास होकर आया है।[१३]

४.—आइन : स्त्रीलिंग बनाने के लिए[१४] : डिप्टी : डिप्टीयाइन—डिप्टीआइन

५.—नी : स्त्रीलिंग प्रत्यय[१५] : डाक्टर : डाक्टरनी
: मास्टर : मास्टरनी

---

१२. बम्बई में 'गैसवाला' का अर्थ यह ही नहीं है कि जो गैस रखता है वरन् यह शब्द 'वह व्यक्ति जो पैट्रोमैक्स (गैस की लालटेन) बेचता है' के अर्थ में प्रचलित है—जी० सी०, विहटवर्थ, एन ऐंग्लो इंडियन डिक्शनरी, सन् १८८५ पृ० १०२। उत्तर भारत में भी यह शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार 'साइकिलवाला' का अर्थ है, वह जो साइकिल बेचता है।

१३. कम्पटीशनवाला में कम्पटीशन अँग्रेजी शब्द तथा '—वाला' विशेषण प्रत्यय लगकर बना है। इसका प्रचार आई० सी० एस० परीक्षा में सम्मिलित होने वाले परीक्षार्थियों के लिए होने लगा। इस प्रकार यह शब्द उन आई० सी० एस० पास व्यक्तियों के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा जिन्होंने १८५५ ई० से प्रारम्भ होने वाली इस परीक्षा को पास किया हो। ट्रेवेलियन में तो सन् १८६४ में लिखित 'कम्पटीशनवाले के पत्र' का भी उल्लेख है। इंडियन एंटीक्वेरी, भाग ८, पृ० २०१।

१४. डा० धीरेन्द्र वर्मा—हिन्दी भाषा का इतिहास, नि० २०२ सन् १९४९, पृ० २३४। डा० उदय नारायण तिवारी—हि० भा० उ० वि०, नि० २२३ सं० २०१२ पृष्ठ ४१०।

१५. वही, नि० २४७ पृ० ४२०।

६.—इया	: देशवासी वाचक पद[१६]	: इंगलैंड	: इंगलेंडिया[१७]
	: गुणवाचक विशेषण	: पलटन	: पलटनिया
		: कांग्रेस	: कांग्रेसिया
	: ऊनवाचक	: गिलास	: गिलसिया
७.—ईय	: विशेषण सूचक	: योरोप	: योरोपीय

—ई प्रत्यय का निम्न दस प्रकार से प्रयोग होता है—

८.—ई	: भाववाचक	: हँसना	: हँसी
	कारण वाचक	: रेतना	: रेती
	संज्ञा पद के विशेषण	: भार	: भारी
	ऊन वाचक	: रस्सा	: रस्सी
	व्यापार वाचक	: तेल	: तेली
	भाव वाचक	: बुद्धिमान	: बुद्धिमानी
	समुदाय वाचक	: बीस	: बीसी
	भाव वाचक	: चोर	: चोरी
	स्त्रीलिंग वाचक[१८]	: घोड़ा	: घोड़ी
	भूषणार्थक[१९]	: अंगूठा	: अंगूठी

उक्त १० प्रयोगों में से अधिकांशत: भाववाचक का प्रयोग ही अधिक मिलता है, जैसे, बैरिस्टरी, अफ़सरी, मास्टरी, मैम्बरी, डाक्टरी, लीडरी, कमिश्नरी[२०] अजंटी[२१] आदि।

विशेषणों का प्रयोग, जैसे, फिल्मी, मशीनी, स्कूली, नम्बरी[२२] आदि।

निम्न कुछ शब्दों का प्रयोग भी प्रत्यय की भाँति होने लगा, जैसे,

—मार	: मारने की क्रिया	: पाकेट	: पाकेटमार
—धारी	: धारण करने वाला	: सूट	: सूटधारी
—वाद	: किसी पक्ष के तत्वज्ञों द्वारा निश्चित सिद्धांत	: रोमांस	: रोमांसवाद

१६. डा० उदयनारायण तिवारी—हि०भा०उ०वि०, नि० २२४, सं० २०१२, पृष्ठ ४१०।
१७. पादरी एथरिंगटन—(व्याकरण) भाषा-भास्कर, सन् १९०५, मुख पृष्ठ के पृष्ठ भाग पर।
१८. डा० धीरेन्द्र वर्मा—हिन्दी भाषा का इतिहास, नि० २०५, सन् १९४९, पृष्ठ २३५।
१९. कामता प्रसाद गुरु—हिन्दी व्याकरण, संशोधित संस्करण, पृष्ठ ४५६।
२०. विभागों का बोध भी होता है।
२१. पोलिटिकल ऐजंट का दफ्तर—फैलन-हिन्दुस्तानी डिक्शनरी, सन् १८७९ पृष्ठ ४०।
२२. बुरे भाव में प्रयुक्त।

—कार	: करनेवाला	: ट्रेजडी	: ट्रेजेडीकार

।ब—२.२। विदेशी प्रत्यय, जैसे,

१—गिरी	: मूल फारसी —गीरी[23]	: कुलीगिरी, लाटगिरी
२—खाना	: फारसी —खान स्थानवाची प्रत्यय[24]	: जेलखाना, जीमखाना, बोतलखाना बग्गीखाना, मिस्त्रीखाना
३—दार	: फारसी—दार[25] रखने वाला	: प्लेटदार, लेबलदार, लैसदार नम्बरदार, लाइनदार, स्प्रिंगदार, डिजाइनदार, रौलदार[26] ।
४.—इस्तान	: फा० स्थानसूचक संज्ञाएं[27]	: इंगलिस्तान ।
५.—आना	: फा० आन :[28]	: लीडराना ।
६. —बाज	: फा० बाज । करनेवाला —ई—भाववाचक संज्ञाएं[29] बनाने के लिए	: लेक्चरबाज लेक्चरबाजी । : पार्टीबाज से पार्टीबाजी । : ट्रिकबाज से ट्रिकबाजी ।
७. —वार	: फारसी विशेषण[30]	: नम्बरवार
८. —नुमा	: दिखाने वाला, आकार का[31] फ़ारसी विशेषण	: पतलूननुमा, बटननुमा, : शेडनुमा, स्पीचनुमा
९. —वान	: फारसी—वान कर्तृवाचक संज्ञाएं बनाने के लिए	: कोचवान
१०. —ची	: तुर्की प्रत्यय। फारसी के माध्यम से[32]	: मिडिलची

२३. डा० तिवारी-हि० भा० उ० वि०, नि० २६६, पृष्ठ ४२५ ।
२४. वही , नि० २६३, पृष्ठ ४२४ ।
२५. वही , नि० २७०, पृष्ठ ४२५ ।
२६. फैलन-हिन्दुस्तानी डिक्शनरी, सन् १८७९ पृष्ठ ७१७ ।
२७. गुरु—हिन्दी व्याकरण संशोधित सं०, नि० ४३९ पृष्ठ ४७४ ।
२८. डा० तिवारी, हि० भा० उ० वि०, नि० २६२ पृष्ठ ४२४ ।
२९. वही वि० २७३ इ० ४२६ ।
३०. गुरु—हिंदी व्याकरण, पृष्ठ ४७१ ।
३१. वही—पृष्ठ ४७३ ।
३२. वही—हिन्दी व्याकरण, अरबी तद्धित प्रत्यय, पृष्ठ ४८० ।

टिप्पणी—कुछ विदेशी फारसी तथा अरबी शब्दों का व्यवहार भी प्रत्यय की भाँति होने लगा।

१. फा० शाही : शाहों या बादशाहों का : हैलटशाही[३३]

२. अरबी साहिब : आदर सूचक शब्द : लाटसाहब, मेमसाहब[३४]

---

३३. नादिरशाही के आधार पर क्रूरता के लिए बना लिया गया।

३४. मेमसाहिबा के स्थान पर मेमसाहब ही अधिक प्रचलित है।

श्री विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

अथर्ववेद में तांत्रिक तत्त्व

निम्नलिखित सूक्तों में तांत्रिक तत्त्व प्राप्त होते हैं—

	अथर्ववेद—काण्ड	१,	अनुवाक	१,	सूक्त	१,	मंत्र	१
	काण्ड	१०	अनु०	१,	सूक्त	२	मंत्र	२३
	काण्ड	१,	अनु०	२,	सूक्त	२	मंत्र	१
	,,	१	,,	१	,,	३	,,	१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८
	,,	२	,,	३	,,	२	मंत्र	१
	,,	२	,,	३	,,	५	,,	३, ४
कौशिक सूत्र--	,,	२	,,	३	,,	६	,,	५
प्रथम कंडिका, विधि २२—	,,	२	,,	५	,,	४	,,	१, २, ३, ४
१५ ,, ,, १७,१८	,,	३	,,	५	,,	५	,,	१
३८ ,, ,, २९	,,	४	,,	२	,,	४	,,	८, ९
३६ ,, ,, १,२,३	,,	५	,,	१	,,	२	,,	५
	,,	५	,,	४	,,	७	,,	४, ५, ६, ७, ८
	,,	६	,,	१	,,	४	,,	१, २, ३
	,,	६	,,	१	,,	५	,,	१, २
	,,	६	,,	७	,,	५	,,	९
	,,	६	,,	१०	,,	४	,,	१, २
	,,	११	,,	२	,,	२	,,	१०
	,,	८	,,	२	,,	६	,,	२
	,,	९	,,	१	,,	२	,,	१, २, ३
	,,	१०	,,	१	,,	१	,,	१
	,,	४	,,	४	,,	३	,,	६
	अथर्व—काण्ड	२	अनुवाक	३	सूक्त	२	मंत्र	८

कौशिक सूत्र—द्वितीय कंडिका, विधि मंत्र ६—१०
४७ ,, ,, २४, २५
,, ,, ,, ५४-५५
४६ ,, ,, ६—२७

अथर्व०—काण्ड १, अनुवाक २, सूक्त १
,, ,, १ ,, २ ,, २ मंत्र २—४ अथर्व—काण्ड ८, ३, ३, १०
,, ,, १ ,, ५ ,, ७ मंत्र ३ ,, ८, ३, ४, १
,, ,, १ ,, ५ ,, ३ मंत्र ४ ,, ८, ३, ४. २-४-५
,, ,, २ ,, ४ ,, ५ ,, १
,, ,, २ ,, ४ ,, ,, ,, ३
१ ,, ५ ७——————
,, ,, २ ,, ३ ,, ४ ,, १
,, ,, २ ,, ३ ,, ४ ,, २—३
,, ,, २ ,, ४ ,, ७ ,, १
,, ,, २ ,, ३ ,, ४ ,, ५
,, ५ ,, ६ ,, ३ ,, ४, ५, ६, ७, ८, ११
,, ,, ८ ,, ३ ,, ३ ,, २
,, ,, ८ ,, ३ ,, ३ ,, २—६, ७

अथर्व—काण्ड २, अनुवाक १, सूत्र २, मंत्र ५
,, ४ ,, ८ ,, २ मंत्र १—१२

अथर्व—काण्ड २ अनु० ५ सूक्त ४, मंत्र १, २, ३, ४, ५
,, २ ,, ५ सूक्त ५ मंत्र १
,, ६ ,, १ सूक्त ४———
,, ६ ,, १० ,, ५ मंत्र—१, २
,, ४ ,, ४ ,, २ मंत्र, ४
,, ४ ,, ४ ,, ३ ,, २
,, ५ ,, ६ ,, ४ ,, १—६
,, ८ ,, ३ ,, १ ,, ६
,, ४ ,, २ ,, ४ ,, ६
,, ५ ,, १ ,, २ ,, ६
,, ५ ,, ३ ,, २ ,, ६
,, २ ,, ५ ,, ६ ,, ४
,, ८ ,, १० ,, १२ ,, १३
,, ७ ,, १ ,, १———
,, ७ ,, १ ,, १ मंत्र—१

,,	७	,,	१	,,	१	मंत्र—	१०	
,,	७	,,	४	,,	१	,,	८	
,,	१०	,,	१	,,	२	,,	३१, ३२	
,,	१०	,,	४	,,	५	,,	२	
,,	६	,,	२	,,	१	,,	२०	
,,	१०	,,	४	,,	४	,,	१, २	
,,	१६	,,	७	,,	१	,,	१	
,,	६	,,	४	,,	१	,,	२०	
,,	६	,,	१	,,	२	,,	१,२,३,५,६,१६,१६,२५	
,,	११	,,	२	,,	४	,,	१, २	
,,	११	,,	२	,,	६	,,	१	
,,	१६	,,	६	,,	८	,,	१	
,,	१६	,,	६	,,	८	,,	४	
,,	१६	,,	६	,,	८	,,	७, ८, ६, १०	

इन उपर्युक्त उद्धरणों का विभाजन विषयानुसार इस प्रकार हो सकता है :—

(१) जादू—सादृश्य और सम्पर्क सिद्धान्त
(२) राक्षस और तंत्र
(३) गन्धर्व, अप्सरा और तंत्र
(४) सिद्धियाँ-मारण, मोहन, वशीकरण आदि
(५) कृत्या
(६) दर्शन—ब्रह्म, शक्ति, परावाक्, पिण्ड और ब्रह्माण्ड, गुह्यज्ञान, काम-तत्त्व, प्राण-तत्त्व, काल-तत्त्व।

वर्तमान रूप में प्राप्त अथर्ववेद में तीन प्रवृत्तियाँ मुख्य हैं—१. जादू २. धर्म ३. दर्शन। डा० एन० जे० शिंदे अथर्ववेद में जादू की प्रधानता मानते हैं यद्यपि उनके अनुसार अथर्ववेद में जादू व धर्म का मिश्रण भी प्राप्त होता है।[1] सामान्यतः धर्म में मनुष्य से महत्तर शक्तियों की उपासना की जाती है जब कि जादू में कुछ विशेष क्रियाओं के द्वारा शक्ति को बलात् वश में किया जाता है। धर्म में भी क्रियाओं व आचारों का प्रयोग होता है परन्तु उसमें साधक देवता की प्रसन्नता के लिए उसकी कृपा पर निर्भर रहता है।

1. The Religion and Philosophy of the Athervaveda
—Dr. N. J. Shende
M.A. Ph. D.
Bhandarkar Research Institute Poona—1952
(Introduction, page I)

वह अपनी प्रार्थना, सेवा, समर्पण व भक्ति से देवता को प्रसन्न करना चाहता है जबकि जादू में इसके विपरीत कुछ विशेष क्रियाओं के द्वारा देवता को कार्य विशेष करने के लिए बाध्य कर दिया जाता है।

दर्शन में सृष्टि, जीव व स्रष्टा आदि के सम्बन्ध में सिद्धान्तों का निर्णय किया जाता है। अथर्ववेद में जादू, धर्म व दर्शन तीनों अलग अलग और मिश्रित रूप में भी प्राप्त होते हैं।

अथर्ववेद के अनुसार सकल रूप धारण कर देवतागण जगत पर अनुग्रहार्थ पिण्ड व ब्रह्माण्ड में भ्रमण करते रहते हैं।[1] इन देवताओं से अभिमत फल की प्राप्ति ही अथर्ववेद का मुख्य विषय है। देवताओं की शक्तियों की शरीर में स्थापना होने से ही इच्छापूर्ति सम्भव है अतः अथर्ववेद विभिन्न क्रियाओं व प्रार्थनाओं का विधान करता है। देवता का शरीर होता है, हवि के भोजन से उसकी तृप्ति होती है, तब उसका प्रसाद (प्रसन्नता) हमें प्राप्त होती है। अतः हवि आदि कार्यों में देवता प्रयोजक है।

अथर्ववेद में देवताओं की प्रसन्नता के लिए जिन क्रियाओं का प्रयोग होता है उनमें जादू व धर्म का मिश्रण पाया जाता है। उदाहरणार्थ यज्ञ में हवि देते समय जो प्रार्थना का भाव है वह तो धर्म के क्षेत्र की वस्तु है और क्रिया में मंत्र के द्वारा जो अनुमान का प्रयोग है वह जादू के क्षेत्र में आता है। (अथर्व० तृतीय काण्ड के द्वितीय अनुवाक्, प्रथम सूक्त के द्वितीय मंत्र में मणि की प्रार्थना की गई है और मणिबंधन से विजय में ऋषि विश्वास प्रकट करता है। खादिर (खैर) वृक्ष में उत्पन्न अश्वत्थ से बनीं मणि को इन्द्र ने युद्ध में धारण किया था अतः इसे हमें धारण करना चाहिए। यहाँ धार्मिक भावना तो यह है कि इन्द्र के द्वारा धारण की गई मणि धारण करने से इन्द्र प्रसन्न होंगे और जादू यहाँ इसलिए है कि यहाँ सम्पर्क का सिद्धान्त कार्य कर रहा है। इन्द्र ने जिस मणि को धारण किया है, उस मणि को धारण करने से वही फल प्राप्त होगा, यह सिद्धान्त अथर्ववेद के ऋषि के लिए अटल है क्योंकि इन्द्र द्वारा धारण करने से इन्द्र व मणि में नित्य संयोग स्थापित हो गया है। अतः मणिधारण विजय में प्रयोजक है।

जादू

अथर्ववेद में धर्म के स्वरूप को स्पष्ट करने के पूर्व प्रथम उसमें प्राप्त जादू का रूप स्पष्ट कर लेना उचित होगा। जादू व धर्म का अंतर हम स्पष्ट कर चुके हैं। सर जेम्स जॉर्ज फ्रेजर ने जादू में दो सिद्धान्तों का उल्लेख किया है—१. सादृश्य का सिद्धान्त। २. सम्पर्क का सिद्धान्त। सादृश्य-सिद्धान्त में जादूगर इस नियम की कल्पना कर लेता है कि सदृश वस्तु सदृश प्रभाव उत्पन्न करती है या परिणाम कारण के सदृश होता है।[2]

---

१. ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः।
वाचस्पतिर्बला तन्वो, अद्य दधातु मे (अथर्व० काण्ड १, अनुवाक १, मंत्र १)

२. Like produces like, or that an effect resembles its cause.
(The Golden Bough, Frazer, page 11.
London, 1954)
(Abridged Edition)

इस प्रथम सिद्धान्त में जादूगर यह मानकर चलता है कि वह केवल अनुकरण से ही इच्छित फल प्राप्त कर सकता है। अतः अनुकरण की प्रवृत्ति मुख्य रहने से इसे होमियोपैथिक या अनुकरणात्मक जादू भी कह सकते हैं। इस प्रकार के जादू में यह कल्पना रहती है कि दो वस्तुएँ जो एक सदृश दिखाई पड़ती हैं, वे एक हैं। इस प्रकार के जादू के अनेक उदाहरण मिलते हैं। उदाहरणतः मारण क्रिया में जादूगर किसी वृक्ष की शाखा को काटता है और कल्पना कर लेता है कि डाल काटना चूँकि गला काटने के समान है अतः डाल काटते ही शत्रु की मृत्यु हो जानी चाहिए। इसी प्रकार मारण में शत्रु के पुतले को बना कर उसे काटा जाता है या सुई से छेदा जाता है और शत्रु की पीड़ा या वध की कल्पना की जाती है, कृत्या का प्रयोग भी इसी सादृश के आधार पर होता है।

जादू का दूसरा नियम सम्पर्क-सिद्धान्त है। जिसमें यह मान लिया जाता है कि दो वस्तुएँ जब कभी एक बार सम्पर्क में आती हैं तो विलग होने पर भी उनमें सम्पर्क रहता है। इसे ही सम्पर्क (Law of contact or Contagion) सिद्धान्त कहते हैं। इसे "कांटेजियस मैजिक" कहा जाता है। इसका उदाहरण यह है : यदि किसी व्यक्ति के पैर की धूलि लेकर उसे आग में डाल दें तो उस व्यक्ति का पैर भी जल जायगा। धूलि का सम्पर्क उस व्यक्ति से हो चुका था अतः जादूगर यह मान लेता है कि उस व्यक्ति के चले जाने के बाद भी उस धूलि का सम्पर्क उसके पैर से बना हुआ है।[1]

प्रथम सिद्धान्त में अमुक प्रकार के कार्य से अमुक कार्य होगा ऐसा माना जाता है, अतः अभावात्मक रूप भी स्वतः अभ्यास में आजाता है। अर्थात् "अमुक प्रकार का कार्य नहीं करना चाहिए" यह भावना भी चल पड़ती है और 'वर्जन' प्रारम्भ हो जाता है। इसे ही 'टैबू' का सिद्धान्त कहते हैं। जादू के साथ 'टैबू' का विशेष सम्बंध है। ऊपर हम मणि-बंधन की चर्चा कर चुके हैं। इन्द्र ने जिस प्रकार मणि पहनी थी, वैसे ही यदि हम भी मणि धारण कर लें तो हमारी भी विजय होगी। क्योंकि इन्द्र प्रसन्न हो जायगा। इसी प्रकार अमुक दिशा में नहीं बैठना चाहिए, अमुक भोजन नहीं करना चाहिए, अमुक स्त्री के साथ सहवास नहीं करना चाहिए, इस प्रकार की वर्जनाएँ भी साथ-साथ चल पड़ीं। अथर्व वेद में जादू व टैबू के सिद्धान्त ओतप्रोत हैं बल्कि अथर्ववेद में जादू की ही प्रधानता है।

अथर्ववेद व अन्य वेदों म भी यज्ञ की विधि महत्त्वपूर्ण है। यज्ञों का पुरोहित जादू व यज्ञ का कार्य साथ साथ करता था। विश्वामित्र आश्वस्त थे कि उनके रहस्य-बल से ही भक्तों की रक्षा होती है, यद्यपि वशिष्ठ यातु = जादू के निन्दक हैं। ऋग्वेद (७—१०४, २१–२४) में उलूक यातु व श्वयातु के वह जानकार बताए गए हैं।[2] भारद्वाज,

१. That things which have once been in contact with each other Continue to act on each other at a distance after the physical Contact has been Severed (The Golden Bough—Page 11)

२. The Religion and Philosophp of the Atharvaveda Page 1-2
—Dr. N. J. Shende.

गौतम, अंगिरा आदि अथर्ववेद के जादूगर हैं और ये ऋग्वेद में भी प्राप्त हैं। प्रथम व दशम मण्डलों में ऋग्वेद में अनेक मंत्र जादू से सम्बन्धित हैं। तैत्तरीय संहिता (१–१–४) में शाब्दिक सादृश्य से ही फल मिलता है। उदाहरणत: रथ के जुए को यहाँ धुर कहा गया है और कहा गया है कि वह शत्रु को धुर्व (नष्ट) करे। धुर व धुर्व में सादृश्य खोजकर इच्छित फल के विषय में ऋषि आश्वस्त है। यहाँ भी जादू का सादृश्य सिद्धान्त प्रयुक्त हुआ है।[१]

वाजसनेयी संहिता म भी (५–२३) कृत्या व वल्गों (demons) का वर्णन है।[२] ये मंत्रों से भाग जाते हैं। शत्रुसंहार के लिए, प्रायश्चित्त, ऋण-मुक्ति, चोर, डाकुओं के नाशादि के लिए मंत्रविधान है। एत्रेय ब्राह्मण में भी अग्नि व पुरोहितों के चमत्कारों का वर्णन है। राज्याभिषेक के समय प्रयुक्त सामग्री के प्रतीकात्मक अर्थ दिए गए हैं (८–८)। अथर्ववेद के गोपथ ब्राह्मण व एत्रेय ब्राह्मण में अधिकांश एकता है।[३]

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि अथर्ववेद के अतिरिक्त अन्य वैदिक साहित्य में भी जादू का प्रचार था परन्तु उसकी अधिकता अथर्ववेद में ही है। अथर्ववेद में मंत्रों व पुरोहितों का महत्त्व बहुत अधिक है। पुरोहित को अपनी वाणी पर अखंड विश्वास है। मंत्रों के अद्भुत व अचूक प्रभाव को वह जानता है। और उनकी सहायता से भूत-प्रेत-राक्षस, पिशाच आदि को भगाने में वह समर्थ है। रोग, अकाल, अवृष्टि, अतिवृष्टि आदि भी मंत्र व क्रिया द्वारा दूर हो सकती हैं। धनलाभ, दीर्घायु, युद्ध में विजय आदि की प्राप्ति भी मंत्रों द्वारा प्राप्त हो सकती है। प्रकृति के सामान्य नियमों में मंत्रों व जादू की क्रियाओं द्वारा इच्छित परिवर्तन किया जा सकता है। सारे ब्रह्माण्ड को वश में करने की शक्ति मंत्रों में है और मंत्र पुरोहित के वश में हैं। जनता को अभयदान पुरोहित ही दे सकता है, जिस गाँव में पुरोहित प्रवेश करता है, उससे सारी आपत्तियाँ रोग-राक्षस आदि स्वत: दूर हो जाते हैं।[४] अत: पुरोहित का संरक्षण राज्य व प्रजा दोनों को प्राप्त करना चाहिए। इस प्रकार जनता के नित्य, नैमित्तिक, धार्मिक, शासन संबंधी, रक्षा, व्यापार, कृषि-संबंधी, आनन्द-उत्सव संबंधी आदि सभी कार्यों की सफलता अथर्व ऋषियों के अधीन है।

जादू, और तांत्रिक साधना में अन्तर

मंत्र अक्षरों से बनते हैं। तंत्रों में इसे 'मातृका' (अक्षर-समूह) कहा गया है। एक मंत्र में कुछ शब्द समूह रहते हैं जो तांत्रिकों के अनुसार किसी विशेष सिद्धान्त पर बनाए जाते हैं। इन मंत्रों को उच्चारण करते हुए विशेष क्रियाएँ करने से सिद्धि प्राप्त होती है क्योंकि शब्द में चिन्मय सत्ता ओत-प्रोत है और चूँकि ब्रह्माण्ड चिन्मय सत्ता का ही आभास है अत: ब्रह्माण्ड

१. The religion and Philosophy of Athervaveda Page No. १-२-३
२. वही — १-२-३
३. वही — ,, ,,
४. अथर्व—काण्ड ४, अनुवाक् ८, सूक्त १, मंत्र ७

का प्रत्येक कार्य शब्द-ब्रह्म द्वारा सम्भव है। अतः शब्दात्मक मंत्रों को तंत्रों में शिव-स्वरूप कहा गया है। देवताओं का रूप मंत्रात्मक है।[1] ब्रह्म भुवन, विग्रह, ज्योति, रव, शब्द व मंत्र ये छः स्वरूप धारण करता है अतः मंत्रों से भुवन, विग्रह आदि शेष ब्रह्म के अवयवों पर विजय प्राप्त की जा सकती है। जिसे 'फ्रेज़र' जादू कहते हैं और जिनमें वे केवल बाह्य क्रियाओं को ही महत्व देते हैं, उन्हें तंत्रों में ज्ञान से भिन्न नहीं माना गया। ज्ञान के अभाव में क्रिया का अस्तित्व नहीं है[2] अतः प्रयोगकर्त्ता के चित्त की अवस्था के अनुसार फल मिलता है। तंत्रों के अनुसार बाह्य क्रिया मुख्य नहीं है, चित्त की दशा मुख्य है। शत्रुबध में साधक के चित्त की अवस्था शत्रु के बध का कारण है, न कि बाह्य क्रिया मात्र। इसी प्रकार वशीकरण में प्रेमिका या प्रेमी के प्रति चित्त की आसक्ति ही फल देती है न कि प्रेमिका या प्रेमी के पुतलों पर किए गए प्रयोग। अतः जादू के सिद्धान्त को तंत्र नहीं मानते। सिद्धियाँ वही प्राप्त कर सकता है या करा सकता है जो ज्ञान व क्रिया में भेद नहीं मानता, सारे ब्रह्माण्ड को अपनी ही सृष्टि समझता है, अतः क्रिया विशेष में साधक की मानसिकता ही मुख्य है, यह तंत्रों का अटल सिद्धान्त है। चित्त की उच्च अवस्था में जो मुख से निकल जाय वही मंत्र है और वह फल भी देता है, जो क्रिया होने लगे, वह फल अवश्य देती है। अतः तंत्र फ्रेज़र के जादू के सिद्धान्त से सहमत नहीं हो सकते। क्योंकि सिद्धियों में आत्म-अनुशासन, आत्म-चमत्कृति आवश्यक है क्रियाओं का महत्व गौण है।[3] (चैतन्य के स्पर्श के बिना सारे मंत्र शरद के बादलों के समान निष्फल हैं। अतः तंत्रों के अनुसार जगत के मूल कारण के परामर्श के बिना मंत्र व क्रियाएँ फल नहीं देतीं और बिना आत्म-परामर्श के जो मंत्रादि की साधना करते हैं वे मृग तृष्णा से व्यर्थ ही पीड़ित हैं।[4])

परन्तु प्रश्न यह है कि क्या अथर्व० की क्रियाओं में यह उच्च आत्म-परामर्श मिलता है ? इसका उत्तर यह है कि अथर्ववेद की बहुत सी क्रियाओं का वर्णन सामान्य जादू के सिद्धान्तों से स्पष्ट हो सकता है परन्तु साथ ही अथर्ववेद में बहुत से मंत्र ऐसे भी हैं जिनमें यह उपर्युक्त उच्च दृष्टि अवश्य मिलती है। प्रथम हम उन क्रियाओं को लें जो अत्यधिक स्थूल हैं। वस्तुतः इन स्थूल क्रियाओं का आविष्कार जब हुआ था तब यह

१. सर्वे मन्त्रात्मक देवाः सर्वे मन्त्राः शिवात्मकाः—तंत्रालोक—प्रथम आह्निक पृष्ठ ८५ Page 1-2 (काश्मीर संस्कृत सीरीज़)
अथर्ववेद में भी कहा है कि मंत्र देवताओं के अनुकूलनिवास करता है, मंत्र देवता-सम्बंधी प्रजाओं के अनुकूल रहता है। अथर्व—काण्ड १० अनु० १ सूक्त २ मंत्र २३

२. यतो.........भिधीयते—तंत्रालोक-प्रथम आह्निक, पृष्ठ १८९

३. आदिमान्त्य विहीनास्तु, मूल योनिमजानतः
न ते सिद्धिकरा मंत्रा, निष्फलाः शरदभ्रवत् (वही—पृष्ठ २१२)

४. निष्फलानि भवन्त्येवं, पिबतो मृगतृष्णिकाम् (वही—पृष्ठ २१२)

उपर्युक्त दृष्टि आविष्कर्त्ताओं के पास नहीं थी,[1] क्योंकि ऐसे सामान्य विश्वास जनता में प्रचलित थे, उनको ही ऋषियों ने स्वीकार कर लिया था और उन्हें एक विशेष धार्मिक रूप दे दिया था। परन्तु आगे के तंत्रों में जब आध्यात्मिकता प्रधान हो गई तो सभी क्रियाओं का समर्थन इस आधार पर कर दिया गया कि कोई भी क्रिया फल दे सकती है, यदि प्रयोगकर्त्ता की चित्तावस्था उच्चकोटि की हो, अतः अथर्ववेद में स्थूल क्रियाएँ बिना किसी उच्चकोटि की आध्यात्मिकता के प्रयुक्त होती थीं और साथ ही उच्च आध्यात्मिकता के निर्देशक मंत्र भी मिलते हैं जो संभवतः बाद में सम्मिलित कर लिए गए होंगे।

सादृश्य-सिद्धान्त

अथर्ववेद के प्रथम काण्ड के प्रथम अनुवाक के द्वितीय सूक्त के प्रथम मंत्र में शर की प्रसंशा की गई है। शर का पिता पर्जन्य व माता पृथिवी है। अतः माता पिता के गुणों के सदृश ही गुणवान है, यहाँ जादू का प्रथम सिद्धान्त (Law of similarity) कार्य करता है। यदि मूत्र रुक जाय तो 'बाल' शब्द कहे, मूत्र बाहर निकल आएगा। यहाँ भी सादृश्य सिद्धांत कार्य कर रहा है।[2]

कार्य-सिद्धि

यदि अथर्व के प्रथम सूक्त का पाठ करते हुए इंधन को अभिमंत्रित करे और अग्नि में डालने पर यदि अग्नि जल उठे तो समझना चहिए कि कार्य सिद्ध होगा। यहां भी जादू का सिद्धान्त कार्य करता है।

कुमार्गी स्त्री यदि पिता माता के प्यार में न रहना चाहती हो तो इस प्रकार कहे— जैसे पुष्पित वृक्ष पर से फूलों को उतार लेते हैं, वैसे ही मैं इस अनभिमत स्त्री के भाग्य को और उसके शरीर को असाधारण तेज को भी मंत्र के प्रभाव से उतारता हूँ।[3] यहाँ भी जादू का प्रथम सिद्धान्त मिलता है। "पुष्पित वृक्ष से फूलों का उतारना" यह क्रिया पुरोहित की कल्पना में अवतरित होते ही, स्त्री हततेज होजायगी, ऐसा उसका विश्वास है। जादूगर का ध्यान अपने मस्तिष्क पर रहता है और वैज्ञानिक का मस्तिष्क व क्रिया के औचित्य व सामर्थ्य दोनों पर। जादूगर मन में मोदकों की कल्पना द्वारा मोदकों की प्राप्ति निश्चित समझता है, वैज्ञानिक मोदकों की प्राप्ति के लिए आवश्यक प्रयत्न व सामग्री को अनिवार्य मानता है। अथर्ववेद की इन क्रियाओं में कोई महान् सिद्धान्त कार्य करता हुआ नहीं सिद्ध किया जा सकता।

---

१. A Savage hardly Conceives the distinction commonly drawn by more advanced peoples between natural and super natural. (Golden Bough—Frazer, Page 10.)

२. अथर्व—काण्ड १—अनुवाक १ सूक्त ३, मंत्र—१,२,३,४,५,६,७,८।

३. अथर्व—काण्ड २, अनुवाक ३, सूक्त २, मंत्र १।

यह सादृश्य-सिद्धान्त निम्नलिखित मंत्रों में द्रष्टव्य है—

अथर्व— काण्ड २, अनुवाक ३, सूक्त ५, मंत्र ३, ४
,, काण्ड २, अनुवाक ३, सूक्त ६, मंत्र ५
,, काण्ड २, अनुवाक ५ सूक्त ४ मंत्र १-२,३,५,
,, काण्ड ३, अनुवाक ५ सूक्क ५ मंत्र १
,, काण्ड ४ अनुवाक २ सूक्त ४ मंत्र ८, ९
,, काण्ड ५ अनुवाक १ सूक्त २ मंत्र ५
,, काण्ड ५ अनुवाक ४ सूक्त ७ मंत्र ४-५-६-७-८,
,, काण्ड ६ अनुवाक १ सूक्त ४ मंत्र १, २, ३,
,, काण्ड ६ अनुवाक १ सूक्त ५ मंत्र १, २,
,, काण्ड ६ अनुवाक ७ सूक्त ५ मंत्र ९
,, काण्ड ६ अनुवाक १० सूक्त ४ मंत्र १, २
,, काण्ड ११ अनुवाक २ सूक्त २ मंत्र १०
,, काण्ड ८ अनुवाक २ सूक्त ६ मंत्र २
,, काण्ड ९ अनुवाक १ सूक्त २ मंत्र १,२-३
,, काण्ड १० अनुवाक १ सूक्त १ मंत्र १

कौशिक गृह्य सूत्रों में इस सादृश्य और अनुकरणात्मक जादू के प्रयोग अनेक मिलते हैं। प्रथम कण्डिका की २२ वीं विधि में कहा गया है कि मूल सहित कुश तोड़ कर पितरों के लिए प्रयुक्त करे और जो कुश गिरहों पर से टूटा हो उसका प्रयोग देव-कार्य में न करे। स्पष्ट है कि पितरों की मृत्यु होने से उनका शरीर नष्ट हो जाता है अतः जड़ से तोड़े गये कुश का ही प्रयोग उनके लिए हो सकता है। १५वीं कण्डिका के १७-१८ मंत्रों में कहा गया है कि मृत्यु-रज्जु के आगे सरपत की तीन इषिका अग्नि में डाले, यदि प्रथम इषिका जलकर ऊपर को उठे तो सेना के प्रधान सेनापतियों की मृत्यु होगी, यदि मध्यम इषिका उठे तो मध्यम पुरुषों की मृत्यु होगी और यदि अन्त वाली इषिका उठे तो अपर पुरुषों की मृत्यु जानो।

३८वीं कण्डिका के २९वें मंत्र में कहा गया है कि वादी से जीतने के लिए चाक्रिक की रज्जु को अभिमंत्रित करके हाथ में धारण करे। सभा में प्रवेश करते समय उसकी स्थूणा को पकड़ कर उपस्थान करे। यहाँ भी सादृश्य-सिद्धांत कार्य कर रहा है। जैसे चाक्रिक की डोरी मृत्तिका को काट देती है, वैसे ही वादी की बात कट जाय, यह भावना यहां छिपी हुई है। इसी प्रकार ३६वीं कण्डिका के १-२-३ मंत्रों में स्त्री सम्भोग के लिए घरवालों को निद्रामग्न करने का विधान यह है कि जल पात्र से सम्पात वाले जल से स्त्री के शाल को संप्रोक्षण करके मंत्र पढ़ कर शेष जल को घर के दूसरे द्वार पर औंधा पात्र करके रख दे। यहाँ पात्रों को उलटा कर देने में यह सादृश्य है कि घर में लोग सो जायेंगे।

औषधियों तक के प्रयोग में भी सादृश्य का सिद्धान्त मिलता है। यथा अथर्व० काण्ड ४, अनु० ४ सूक्त ३, मंत्र ६ में अपामार्ग की बन्दना है, जहां कृत्या गढ़ी हो, वहाँ अपामार्ग का पौधा रोप दे। क्योंकि अपामार्ग के पौधे में चिपकने का गुण होता है अतः कृत्या उससे छूट कर निकल नहीं सकती। यहाँ केवल सादृश्य के आधार पर ही अपामार्ग द्वारा परिणाम की कल्पना कर ली गई है।

सम्पर्क-सिद्धान्त

हे शत्रु! तेरे छिन्न पर्ण सहित पैर की धूलि को मैं अग्नि में डालता हूँ, यह अग्नि तेरे शरीर में पैर की धूलि द्वारा व्याप्त होजावे।[1] यहां जादू का द्वितीय सिद्धान्त कार्य कर रहा है।

ऋषि का विश्वास है कि शत्रु के स्पर्श के बाद धूलि और शत्रु के पैर का नित्य सम्बन्ध स्थिर हो गया है अतः धूलि को जलाने से शत्रु-दाह अवश्य होगा।[2]

अथर्ववेदीय कौशिक सूत्र में इस जादू के अनेक उदाहरण मिलते हैं, द्वितीय कंडिका में मेधा-जनन कर्मविधि कही गई है। ब्रह्मचारी एकत्रित भिक्षा को अध्यापक को अभिमंत्रण करे। रात में सोते हुए अध्यापक के कान में अभिमंत्रण करे। जब जब उपाध्याय घर को जाया करे तब तब ब्रह्मचारी जप किया करे। ग्रामीणों को अन्न और सुरापान करने वालों को सुरादेवे (मंत्र ९—१०)। अध्यापक के सम्पर्क से मेधा प्राप्ति होती है यह यहाँ लक्ष्य करने योग्य है।

४७वीं कंडिका के २५ मंत्र में परशु वृक्ष के पत्ते से दौड़ते हुए शत्रु के पैर की जगह को थोड़ा सा काट दे—अथवा छेद दे। कोण द्वारा संस्थापन करके उस पैर से धूलि लेकर बध के पत्ते में बाँध कर भाड़ में डाल दे। शब्द होने पर शत्रु को मर गया, जान ले। इसी कंडिका के ५४-५५ मंत्रों में कहा गया है कि शत्रु की छाया को दार्भ्युज से विद्ध करे और शत्रु के पास के जल से मार्जन करे, शत्रु मर जायगा। यहाँ भी सम्पर्क-सिद्धान्त कार्य करता है।

यहाँ विशेषरूप से लक्ष्य करने की बात यह है कि सादृश्य व सम्पर्क-सिद्धान्त प्रायः मिल जाते हैं। उदाहरणतः ४७वीं कंडिका के २४ मंत्र में कहा है कि शत्रु को गिरे हुए बाँस की छड़ी से मारे और फिर २५ मंत्र में सम्पर्क सिद्धान्त प्रयुक्त किया गया है जो ऊपर वर्णित है। गिरे बाँस की छड़ी में सादृश्य-सिद्धान्त है, स्वतः पतित बाँस की छड़ी में भावना यह है कि शत्रु काभी स्वतः पात होगा। इसी प्रकार ४९ कण्डिका के ६—२७ मंत्रों में एक स्थान पर यह विधि है कि शत्रु से कच्चे घड़े पर हाथों का प्रक्षालन कराए। इसका अर्थ यह है कि कच्चे घड़े की तरह शत्रु घुल जाय और कच्चे घड़े के साथ शत्रु का सम्पर्क भी कराया गया है अतः यहाँ भी दोनों सिद्धान्तों का मिश्रण मिलता है।

---

१. अथर्व० काण्ड० २ अनुवाक ३—सूक्त २—मंत्र ८।

२. यह विश्वास सार्वभौमिक है—द्रष्टव्य Golden Bough, Page 44

इसी प्रकार मणि-बन्धन सम्बन्धी जितने मंत्र और विधियाँ हैं, सब इसी द्वितीय सिद्धान्त द्वारा स्पष्ट हो सकती हैं। उदाहरणत: अश्वत्थ मणिको इंद्र ने धारण किया था अत: इन्द्र के सम्पर्क से उसमें इन्द्र के गुण आगए अत: उसका धारण करना फलप्रद है। यह है सम्पर्क-सिद्धान्त और अनुकरण यहां यह है कि इन्द्र के समान हम भी सारे कार्य करें तो इन्द्र हो जायेंगे।

जादू के इन सिद्धान्तों के प्रयोग जिन जिन क्षेत्रों में होते हैं उन्हें हम इस प्रकार रख सकते हैं—

(१) शान्तिक (२) पौष्टिक (३) आभिचारिक (४) अद्भुत कर्म[१] इनमें केवल अभिचार में ही नहीं अन्य क्षेत्रों में भी जादू का प्रयोग मिलता है। जादू में प्रत्येक परिस्थिति व प्रयुक्त पदार्थ को अभिमंत्रित किया जाता है। पदार्थ और परिस्थिति को यजमानया अपने अनुकूल करने के लिए प्रयोग कर्त्ता अपनी शक्ति को पदार्थ व परिस्थिति में प्रेषित करता है। इस क्रिया से पदार्थ व परिस्थिति प्रयोक्ता की इच्छा के अनुकूल हो जाती है। तंत्रों में जो शक्तिपात का सिद्धान्त मिलता है, उसका पूर्व रूप इस जादू में दिखाई पड़ता है। उदाहरणत: माहेश्वरी कृपा से साधक में शक्ति का उदय स्वत: अनायास ही हो जाता है। जैसे दीपक की ज्योति से दूसरे दीपक की ज्योति मिल जाती है वैसे ही गुरु की प्रकाशित चेतना से शिष्य को[२] अथवा प्रकाश रूप शिव से शिष्य को शक्तिपात् होता है और तब वह स्वयं गुरुवत् व शिववत् हो जाता है। इसी प्रकार अभिषेक में ऋषि मेखला बन्धन कर शक्ति का संक्रमण यजमान के शरीर में कर देता है। यह शक्ति विश्वास से ही प्राप्त हो सकती है। विश्वास रहित व्यक्ति पर शक्तिपात नहीं हो सकता।

मंत्र द्वारा जल, अग्नि, मिट्टी आदि पदार्थों में प्रयोक्ता की शक्ति संक्रमित हो जाती है। अत: जल से भरे घड़े से जल लेकर उसे अभिमंत्रित कर शत्रु पर फेंकने से शत्रु का नाश होता है। रोगी व्यक्ति पर जल का पात होने पर रोग दूर हो जाता है, भूत प्रेत दूर हो जाते हैं, अथवा जिसके शरीर पर जल पड़े वह वश में हो जाता है।

इसी प्रकार अग्नि से जादूगर यज्ञ करता है। चावल की भुसी अग्नि में डालता है, इससे भूत-प्रेतों पर विजय होती है। सामान्य यज्ञों में घृत का प्रयोग होता है, क्योंकि घृत 'सारतत्त्व' है। अत: इसका प्रयोग सर्वग्राही है। भूसी में सार नहीं है अत: वह सारहीन भूत प्रेतों के लिए है। अग्नि-यज्ञों में विघ्न डाल कर शत्रु की हानि भी की जाती है। पुरोहित यजमान के दोनों हाथों को बाँधता है, मुख बन्द कर देता है, और शत्रु की हवि को नष्ट कर देता है। इस क्रिया में यह कल्पना कर ली जाती है कि

१. द्रष्टव्य—कौशिक सूत्र
२. तंत्रालोक—द्वितीय आह्निक—पृष्ठ ३४

शत्रु नष्ट हो गया क्योंकि उसकी हवि नष्ट हो गई है। इसे "जादू में टैलीपैथी" कहा जाता है।[1]

अग्नि के प्रयोगों में श्मशान-अग्नि या क्रव्याद अग्नि का भी प्रयोग होता है। कौशिक गार्हपत्य अग्नि को क्रव्याद में बदल सकते हैं। शीशा व उड़द की हवि से सामान्य अग्नि क्रव्याद में बदल जाती है। मृत्यु के बाद उड़द या सरकंडे से यज्ञ करने से प्रेत घर छोड़ जाता है। अथर्व ऋषियों के अनुसार प्रत्येक पदार्थ—जल, भोजनादि में पिशाचादि निवास करते हैं अतः उनकी शुद्धि आवश्यक है। गन्धर्व व अप्सराएँ भी जनता को कष्ट देती हैं। यज्ञों से इन्हें भी भगाया जा सकता है।

शाप देने में भी जल व मंत्र का प्रयोग होता है। कुस्वप्नों के नाश के लिए भी जादू आवश्यक है। ताबीजों के लिए भी नाना विधि-विधान बताए गए हैं। कोई भी कार्य ऐसा नहीं है जो मंत्र द्वारा सम्भव नहीं है। यज्ञ मंत्र द्वारा होता है और देवता मंत्रों के वश में रहते हैं। मंत्र सिद्ध होने पर ही फल देते हैं, उनकी सिद्धि के लिए अनेक प्रयोग हैं। मंत्र सिद्ध होने पर मंत्र शान्तिक, पौष्टिक, आभिचारिक व अद्भुत सभी कार्यों के लिए समर्थ हो जाते हैं। सृष्टि चमत्कारों से पूर्ण है परन्तु चमत्कार मंत्राधीन होने से प्रयोगकर्त्ता पुरोहित के अधीन है अतः ऋषि अपने को 'द्रष्टा' कहते हैं और जनता भी उन्हें द्रष्टा मान लेती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अथर्ववेद में पुरोहित इन जादू की क्रियाओं द्वारा जनता की रक्षा का भार लेते थे। परिणामतः पुरोहित केवल व्यक्तिगत चमत्कारों द्वारा कोरे जादूगर ही नहीं रह गए, वे स्वयं में एक संस्था बनते गए। और मंत्रों व क्रियाओं द्वारा प्रकृति को वश में करने के इन प्रयत्नों का रूप सामाजिक होता गया। प्रकृति के रहस्यों पर इस प्रकार पुरोहितों का एकाधिकार मान लिया गया और उनकी सर्वज्ञता स्वीकृत हो गई। परिणामतः आगे के युगों में जो गुरु को इतना अधिक महत्त्व मिला, उसका एक मुख्य कारण यह सर्वज्ञता भी थी। कोरी शास्त्रीयता व, कविता धार्मिकता तथा दार्शनिकता से व्यक्ति को इतना महत्त्व न मिलता यदि इन चमत्कारों का प्रयोग न किया जाता। तंत्रों में आगे चल कर इसीलिए कहा गया है कि ये चमत्कार आवश्यक हैं। यद्यपि मुमुक्ष के लिए ये महत्त्वहीन हैं परन्तु मूर्ख जनता को विश्वास दिलाने के लिए इनकी आवश्यकता है।[2]

यह तो स्पष्ट है कि विश्वास के साथ साथ पुरोहितों की वृत्ति का प्रश्न भी इन चमत्कारों के साथ सम्बद्ध था अतः इन सर्वज्ञ गुरुओं का यह वर्ग आगे के सम्प्रदायों के साधक और दार्शनिक गुरुओं का पूर्व रूप था। अथर्ववेद में जिस प्रकार जो गुरु अपनी क्रियाओं से व मंत्रों से जनता को जितना अधिक चमत्कृत करता था, उसका उतना ही अधिक

---

१. The religion and Philosophy of Athervaveda—N. J. Shende (Section—Magic in Athervaveda) Witch-craft।

२. तंत्रालोक—३३ आह्निकम्—पृष्ठ ३४५।

आदर होता था। उसकी शास्त्रीयता और पांडित्य की चिन्ता जनता को नहीं होती थी, वैसे ही सर्वज्ञ व रहस्यवेत्ताओं के लिए शास्त्र जब जब अनावश्यक हुआ, तब तब जनता ने कभी चिन्ता नहीं की। साधकों के अनुभव, अनुमान व रहस्य-विज्ञता पर विश्वास उत्पन्न होने के पश्चात् किसी भी शास्त्रीय पंडित से उनका कम आदर न होता था बल्कि कभी कभी तो शास्त्रीय पंडितों से भी अधिक आदर होता था। सर्वज्ञतावाद का यह रूप जो अथर्ववेद में मिलता है, उसी की परम्परा में हमें उन सब साधकों के चमत्कारों को लेना चाहिए जो शास्त्रीय कम और चमत्कारी अधिक थे उदाहरणतः सिद्धों व नाथ-पंथियों के अवशेष कनफटों में आज भी वही प्रवृत्ति देखी जा सकती है। 'हबूड़ा' जाति उत्तरी भारत में भ्रमण करती हुई मिलती है, हबूड़ा व कनफटा जाति की स्त्रियाँ आज भी वशीकरण, मारण आदि की शिक्षा देती हुई पकड़ी गई हैं। स्वयं इन पंक्तियों के लेखक ने अपने ग्राम अधासी, फफूँद, इटावा (उत्तर प्रदेश) में एक हबूड़ा स्त्री को वशीकरण सिखाते हुए देखा था। प्रश्न करने पर यह भी पता चला कि उस स्त्री की अनेक शिष्याएँ हैं, परन्तु शिष्याएँ रहस्योदघाटन के लिए प्रस्तुत न हुई, । उस स्त्री का आदर किसी भी पुरोहित से कम नहीं था। वह किसी पशु विशेष की अस्थियों पर वशीकरण सिखाती थी। इसी प्रकार कनफटा जोगी औषधियों व क्रियाओं द्वारा अद्भुत कार्य करते हुए दिखाई पड़ते हैं और इनकी सर्वज्ञता के विषय में इस देश के बहुत से लोग अब तक आश्वस्त हैं। अथर्ववेद में इन विश्वासों ने जिस प्रकार जादूगरों को शीर्ष स्थान दिया था वैसे ही गुरु शिष्य परम्परा से अब तक इन रहस्यों की धरोहर सुरक्षित रूप से चली आ रही है। तांत्रिक सम्प्रदायों में इस परम्परा ने प्रमुख भाग लिया है।

राक्षस और तंत्र

अभिनव गुप्त ने तंत्रालोक में आगमों की परम्परा में अनेक निशाचरों का उल्लेख किया है। इसमें रावण व विभीषण भी तंत्रसाधना के आचार्य कहे गए हैं। राक्षसों व असुरों के पुरोहित शुक्राचार्य भी तंत्राचार्य थे। यक्ष व दानव भी तंत्रवेत्ता थे।[1] यह भी कहा गया है कि रावण तंत्रों को चुरा कर लंका में ले गया था। वहाँ से विभीषण ने तंत्रशास्त्र का उद्धार किया।[2] तंत्रों के नामों से भी यह स्पष्ट होता है कि यह शास्त्र अवैदिक परम्पराओं द्वारा पोषित हुआ है। मातंग व निशाचर तंत्र ऐसे ही नाम हैं। राक्षसों को एकस्वर से सभी 'मायावी' कहते आए हैं। 'रामचरित मानस' में तुलसी ने रावण को 'मायावी' कहा है। अथर्ववेद में राक्षसों, पिशाचों, भूत-प्रेतों के भगाने के लिए बड़े विधि विधान बताए गए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि तांत्रिक क्रियाओं से—विशेषकर अभिचार आदि से राक्षसों का विशेष सम्बन्ध था। न केवल तांत्रिक क्रियाओं से अपितु औषधि आदि का ज्ञान भी आर्यों को असुरों से मिला। इसका

---

१. तंत्रालोक—३६ आह्निक-पृष्ठ ३८२-८८

२. वासुकिर्नाम नागेन्द्रो गृहीत्वा पूजयस्सदा, तदा, तस्य तु यच्छेषं, तत्सर्वं दुष्ट चेतसा। अपहृत्य गतो लंका, रावणो देव कण्टकः…………
ततो विभीषणे प्राप्तं—तस्माद्दाशरथिं गतम्—वही-पृष्ठ, वही।

स्पष्ट उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है।[1] फिर अथर्ववेद का जादू रक्षात्मक है वह राक्षसों पिशाचों आदि से पीड़ित जनता की रक्षा के लिये प्रयुक्त होता है यद्यपि जनता के शत्रुओं राक्षसों आदि के नाश में स्वयं ये अथर्व ऋषि भी दुष्ट जादू (Black Magic) का प्रयोग करते हैं। अतः इस अनुमान के लिए पर्याप्त प्रमाण हैं कि राक्षस आदि दुष्ट जादू के विशेषज्ञ थे और आर्य-अधीनस्थ जनता को वे पीड़ित भी करते थे। कम से कम इतना तो स्पष्ट ही है कि राक्षसों व आर्य ऋषियों में घोर प्रतिद्वंदिता थी और इन आर्य ऋषियों की टोह में भ्रमण करने वाले दुष्ट-जादू विशेषज्ञ राक्षसों के नाश में ऋषि तत्पर रहते थे। इन राक्षसों को 'यातुधान' भी इसीलिए कहा गया है क्योंकि ये यातु-विशेषज्ञ थे और इन्हीं से ऋषियों ने यातु की शिक्षा पाई थी।

अथर्ववेद के प्रथम काण्ड, द्वितीय अनुवाक, प्रथम सूक्त में कहा गया है कि "राक्षस का किसी व्यक्ति में आवेश भी होता है। वस्तुतः राक्षस दुष्ट-जादू से जनता को पीड़ित करते थे उसी को ऋषि आवेश कहता है)। राक्षस आर्यों को मारने के लिए (या पुरोहितों को मारने के लिए) गुप्त रूप से विचरण करते हैं।

अन्यत्र कहा गया है कि राक्षस गुहा में निवास करते हैं, और भक्षण शील हैं। फिर कहा गया है कि राक्षसों से पीड़ित व्यक्ति देवताओं (आर्य पुरोहितों) की शरण में आता है उसकी रक्षा की प्रार्थना भी इसी सूक्त में की गई है।[2]

"राक्षस पत्नियां कठोर वाणी में शाप देने वाली होती हैं और सब पापों की जड़ हिंसा रूप पाप को करती हैं। तथा जो राक्षसी उत्पन्न संतान के रक्त आदि रूप रस को हरने के लिए रक्त पान का आरम्भ करती है, इन सब राक्षसियों में से प्रत्येक राक्षसी अपनी संतान को और हमारे शत्रु की संतान को खावे"[3]

तंत्र साधना में आजतक प्रचलित है कि नरमाँस का भक्षण, सुरापान, विष्टालेपन, रक्तपान आदि साधना में वैध है क्योंकि चित्त में शंका उत्पन्न न हो, इसलिए भीषण कर्म आवश्यक हैं।[4]

राक्षस व राक्षसियाँ रौद्रकार्य अवश्य करती थीं और उनके चमत्कारों का आतंक भी बहुत था। इन्हीं के प्रभाव के नाश के लिए तथा इनसे जनता को त्राण देने के लिए अथर्व अंगिरा, व भार्गवों ने समानान्तर पौरोहित्य प्रारम्भ किया और स्वयं तांत्रिक साधनाओं में विशेषता प्राप्त की। जिससे निम्न वर्ग की जनता में भी आर्य प्रभाव दृढ़ हो गया।

---

१. "हे औषधि ! तुझे पृथ्वी के ऊपर आसुरी माया ने उत्पन्न किया है —
अथर्व०—काण्ड १, अनुवाक-५, सूक्त ३, मंत्र ४।

२. अथर्व-काण्ड १, अनुवाक् २, सूक्त २, मंत्र-२-४।

३. ,, ,, १ अनु०-५ सूक्त ७ मंत्र-३।

४. दक्षिणं रौद्र कर्माण्यं—वामं सिद्धि समाकुलम्—तंत्रालोक, ३६ आह्निकम्।

राक्षसों व पिशाचों का जो रूप अथर्ववेद में चित्रित है, उसमें कल्पना का अंश भी है, उन्हें भूत-प्रेतों की पंक्ति में मिला दिया गया है, जबकि वे भी जादूगर थे और यातुधान संज्ञा उन्हें प्राप्त थी। ये राक्षस व पिशाच अमावस्या की रात्रि में विचरण करते थे[1] और उपद्रव करते थे[2]। पिशाच यह खोज करते हैं कि इस समय (आर्य-प्रभाव-ग्रस्त क्षेत्रों में) क्या हो रहा है?[3] राक्षस, राक्षसियों व पिशाचों के अनेक नाम अथर्ववेद में मिलते हैं उनमें से कुछ एक ये हैं—

एकवाद्या, निःसाला (अथर्व-काण्ड २ अनु० ३, सूक्त ४, मंत्र १) मगुन्दी की पुत्रियाँ पिशाचिनी (२, ३, ४, २) अर्णय पिचाशी, (२, ३, ४, ३) शेवधृकराक्षस (२, ४, ७, १)।

अन्यत्र स्रोक, अनुस्रोक, सर्प, अनुसर्प, जूर्णि, उपक, आदि नामक राक्षसियों के नाम दिए गए हैं।[4]

ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा गया है कि अलक्ष्मी रूपी कानी विकट पिशाची तू पहाड़ पर चली जा।[5]

अथर्ववेद के अनुसार राक्षसियां रोग उत्पन्न करती हैं[6]। पिशाच की आंखें फोड़ दो, हृदय फाड़ दो, जिह्वा काट दो, दाँत तोड़ दो, हे अग्नि! हे यविष्ट। आप इनका संहार करें। पिशाचों ने इसका माँस हर लिया है, खा लिया है, हटालिया है, हे विद्वान अग्ने! उस माँस व ज्ञान को आप फिर उसके शरीर में स्थापित करिए, हम मंत्र शक्ति से इसके शरीर में प्राणों को प्रेरित करते हैं। जो पिशाच कच्चे, चितकबरे पात्र में, पके भोजन में, कच्चे भोजन में हमें नष्ट करने का विचार कर चुका है, ऐसे पिशाच यातना भोगें और यह पुरुष नीरोग हो जाय। दुग्ध में, मंत्र में, खेती के पके अन्न में, जो पिशाच नाश करने का विचार करे, वह यातना भोगे। जल पीने के अवसर पर, यातना भोगने के अवसर पर (यात्रा के समय) व भूमि रूप शय्या पर जिसने पीड़ित किया है, वह पिशाच स्वयं यातना भोगे। ये पिशाच माँस भक्षक हैं।[7]

अथर्ववेद में राक्षसों के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राक्षस एक जाति विशेष का ही नाम है, भूत प्रेतों के साथ इन्हें आर्यों ने सम्बद्ध अवश्य कर दिया है परन्तु ऐसे भी मंत्र हैं जिनसे राक्षस भी मनुष्य थे यह स्पष्ट हो जाता है। अथर्ववेद के काण्ड ८, अनुवाक ३ सूक्त ३, के द्वितीयमंत्र में कहा गया है कि अनुपलाल, पलाल, शर्कु (शर्,

---

१. अथर्व—काण्ड २, अनुवाक ४ सूक्त ५ मंत्र—१
२. ,, ,, ,, ,, ,, ,,—३
३. अथर्व काण्ड १, अनवाक ५, सूक्त ७
४. अथर्व०-काण्ड २, अनु० ४, सूक्त ७, मंत्र ३, ४, ५, ६
५. ऋग्वेद—१०/१५५/१
६. अथर्व—काण्ड २, अनु० ३, सूक्त ४, मंत्र ५
७. अथर्व—काण्ड ५ अनु०-६, सूक्त ३, मंत्र ४, ५, ६, ७, ८, ११

शर् शब्द करने वाले) कोक (कोक के समान आकार वाले) पलीजक (झुरियाँ डालने वाले) आश्रेष (अड़कर पीड़ित करने वाले) वृत्रिवास (रूपवान वस्त्र) पहनने वाले, ऋक्ष और पुमीलिन (आँखों को संकुचित करने वाले) अनेक प्रकार के राक्षस हैं।

अन्यत्र कहा है कि अनुजिघ्र राक्षस सूँघकर मारते थे। प्रमृश स्पर्श करके मार डालते थे, क्रव्याद माँस भक्षक थे और रेरिह चाट कर मार डालते थे। कुछ राक्षस किष् किष् शब्द करते थे।[1]

राक्षस रूप भी बदल सकते थे। ये भ्रातृ का सा विश्वास दिलाकर आते हैं। पिता बन कर आते हैं। हिजड़े का सा रूप धारण करके आते हैं।[2]

ऋग्वेद में भी कहा गया है:—

यस्त्वा भ्राता भूत्वा पतिर्भूत्वा जारोभूत्वा निपद्यते।
प्रजां यस्ते जिघांसति, तम् इतो नाशयामसि॥[3]

ये राक्षस सायंकाल गर्दभ के समान रेंकते हुए घरों में नाचते हैं। और जो कुसूल (कुठिया) के आकार के होते हैं वे अनेक प्रकार की ध्वनि करते हैं।[4] उदाहरणतः क्रकंध मुर्गे की ध्वनि करता है।'[5] ये राक्षस सूर्य को सहन नहीं करते। उल्लुओं के समान गिरिगुहा में प्रवेश कर विचरण करते हैं उन अश्रीक बकरी के समान चमड़े वाले दुर्गंधित, सदा नवीन मांस का भक्षण करने से रक्त से सने मुख वाले, कुत्सित अलंकारधारी राक्षसों को हम नष्ट करते हैं। पिशाच अपनी स्त्रियों के आगे सींग लेकर चलते हैं। पाक शालाओं में ये अट्टहास करते हैं। इन राक्षसों के पश्चिम की ओर पैर की अँगुली होती है। सामने एड़ियाँ होती हैं। मुख पूर्व की ओर होता है। ये गौ के गोबर व घोड़े की लीद से उत्पन्न होते हैं। मुण्ड रहित होते हैं। मुट्-मुट् शब्द करते हैं। इनके अण्डकोश घड़े के समान हैं। और ये वायु के समान शीघ्रगामी होते हैं।[6]

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि ये राक्षस, पिशाच आर्य-पुरोहितों के घोर प्रतिद्वन्दी थे। आर्य-पौरोहित्य को इनसे भय था अतः जनता से सीखकर भृग, अंगिरादि ने इन अनार्य पुरोहितों के दुष्ट-जादू को धीरे-धीरे जनता से उठा दिया और स्वयं उनके स्थान पर आसीन हो गए। आर्य पुरोहित इनकी भाषा न समझ पाते थे अतः उन्हें शर्कु, कोक, पलीजक आदि नाम दिए जो स्पष्टतः ध्वनि-अनुकरण मूलक हैं। राक्षस आर्यों के दुर्दान्त शत्रु थे अतः उन्हें बड़े ही भयंकर रूप में चित्रित किया गया है। उन्हें प्रत्येक प्रकार

१. अथर्व०-काण्ड ८, अनु० २, ३, सूक्त ३, मंत्र २, ६
२. ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ७
३. ऋग्वेद—१०—१६२—५
४. अथर्व०-काण्ड ८, अनु० ३, सूक्त ३, मंत्र १०
५. ,, ,, ,, ,, ,, सूक्त ४, मंत्र १
६. अथर्व० काण्ड ८ अनु० ३, सूक्त ४ मंत्र २, ४, ५

की पीड़ा का कारण बता देने से जनता उनसे घृणा करने लगी। उन्हें भूत-प्रेतों के साथ सम्मिलित कर दिया गया। आज भारत के ग्राम के किसी भी व्यक्ति से पूछिए तो वह बड़े आत्म-विश्वास से भूत-प्रेत पिशाचों के विषय में बताएगा कि उनके पैर पीछे की ओर होते हैं और एड़ियाँ आगे की ओर होती हैं। वैदिक ऋषि प्रबल प्रचारक थे। भय, अंधविश्वास और प्रतिशोध की भावना ने आर्यों द्वारा भारतीय आदिवासियों का जो चित्र दिया है वह इतना गर्हित बना दिया गया है कि यह कल्पना करना भी कठिन हो जाता है कि इन्हीं आदिवासियों से आर्यों ने अनेक बातें सीखी थीं। जादू और तांत्रिक क्रियाओं के वास्तविक शिक्षक यही राक्षस, असुर, पिशाचादि उनके पुरोहित थे। सिद्धियों के द्वारा अनेक चमत्कार कर दिखाने में असुरों व राक्षसों ने देवों को पराजय दी है। पुराणों का इतिहास प्रमाण है। रामचरितमानस में रावण व मेघनाद इस दुष्ट-जादू तथा अनेक चमत्कारों के लिए प्रसिद्ध हैं।

चूंकि तंत्रों में वैदिक आर्य-परम्पराओं व मान्यताओं के अतिरिक्त अन्य स्थानीय परम्पराओं व मान्यताओं का प्रयोग किया गया है और वैदिक विधि-निषेध के विरुद्ध विद्रोह प्रकट किया गया है अतः इन निशाचरों असुरों आदि के साथ तंत्रों का विशेष सम्बन्ध स्थापित किया गया है। यह तो प्रसिद्ध ही है कि रुद्र-शिव सभी अवैदिक परम्पराओं के विश्वासियों के आदि स्रोत हैं और इसीलिए तंत्रों का शिव के साथ घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित है। जादू, रहस्य, मंत्र, योग रसायन आदि सभी रहस्यमय विद्याओं के आदि गुरु शिव हैं। आर्यों को इसी रुद्र को शिव बनाकर स्वीकार करना पड़ा और साथ ही पीछे के शैव-शाक्त तंत्रों में आर्य व अनार्य मान्यताओं के मिश्रित रूप को स्वीकृत किया गया।

गंधर्व और अप्सरा

राक्षसों, पिशाचों के साथ-साथ अप्सराओं द्वारा आविष्ट व्यक्तियों का वर्णन भी अथर्ववेद में मिलता है। यद्यपि कहीं-कहीं गंधर्व व अप्सराओं का सम्बंध प्रकृति से भी जोड़ा गया है।[१] परन्तु अप्सरा व गंधर्व जाति के लोग तांत्रिक क्रियाओं के लिए प्रसिद्ध थे। कहा गया है कि अप्सराएँ मनुष्यों में प्रविष्ट होकर उन्हें रुलाती हैं। वे बलवती हैं। आविष्ट पुरुषों में ग्लानि फैलाने वाली हैं, इन्द्रियों को नष्ट करने वाली हैं। मन को मोह में डालने वाली हैं। गंधर्ववती अप्सराओं को ऋषि हवि देता है।[२]

---

१. तैत्तरीय संहिता ३।४।७।१ में चंद्रमा को गंधर्व व नक्षत्रों को अप्सरा कहा गया है। इसी संहिता में अन्यत्र ३.४।४।७२ में पर्जन्य को गंधर्व व विद्युत को अप्सरा कहा गया है।

२. अथर्व-काण्ड २, अनु० १, सूक्त २, मंत्र ५ तथा अथर्व० काण्ड ४ अनु० ८ सूक्त २ मंत्र १—१२

मंत्र शक्ति

मंत्र का महत्त्व पहले कहा जा चुका है। मंत्रों का प्रयोग सिद्धियों में विशेष रूप से होता है—

वशीकरण

तृण को जैसे वायु घुमाती है, वैसे ही मैं तेरे हृदय को मथता हूँ। हे अश्विनीकुमार, इच्छित स्त्री को लाओ। कबूतर जिस स्त्री विषयक वाक्य को कहते हैं, अश्व जैसे वड़वा से युक्त होता है, वैसे ही मैं होऊँ।[1]

उत्कृष्ट रूपेण उत्तुद देवता तुझे कामार्त करें। मुइयों के समान मदन-विकारों से व्यथित हुई तू पलंग पर शयन में आदर न कर। काम के बाण से मैं तेरे हृदय को मथता हूँ।[2]

वाजीकरण

हे पुरुष तू वृषभ के समान आचरण कर, इस मणि के प्रभाव से बहुत वीर्यवान् हो।······जिस प्रकार से तेरा पुंस्प्रजनन बढ़े, उचित अवयव वाला होकर मिथुनी भवनक्षम हो, तिस प्रकार बढ़ और फैल और उस बढ़े हुए शेप से सुरतार्थिनी स्त्री के पास जा। जिस रस से वन्ध्य पुरुष को वीर्यवाला करते हैं, आतुर पुरुष को पुष्ट करते हैं। हे वृहस्पति! उस रस से इस वाजीकरण की कामना वाले के शिश्न को आप धनुष के समान तना हुआ करिए।[3]

मारण

प्रथम काण्ड के प्रथम अनुवाक के प्रथम सूक्त का तांत्रिक कार्यों में विनियोग कहा गया है। इसी प्रकार तृतीय काण्ड के प्रथम अनुवाक के प्रथम सूक्त का 'मारण' में विनियोग है। इस सूक्त का नाम है "अग्निर्णः शत्रून्" इसका सांग्रामिक अग्नि में विनियोग होता है। इस पर कौशिक सूत्रों में लिखा है कि भुस व कणिका मिले हुए ओदन पिण्ड को सांग्रामिक अग्नि में उलूखल से होम करे। तथा इसी कार्य में २१ रेती के कणों को छाज में रखकर शत्रु सेना की ओर उड़ावे।[4]

---

१. अथर्व-काण्ड २, अनु० ५, सूक्त ४, मंत्र १, २, ३, ४, ५

२. अथर्व-काण्ड ३, अनुवाक—५, सूक्त ५ मंत्र १ (कौशिक सूत्र में इसके लिए क्रिया यह है कि इस सूक्त से कूट को मक्खन में मिला कर तीन समय अग्नि से शरीर को ताप दे। यहाँ भी जादू का 'सादृश्य-सिद्धान्त' प्रयुक्त किया गया है, मक्खन का सादृश्य स्त्री के हृदय से है, जिस प्रकार मक्खन अग्नि से पिघल जाता है वैसे ही स्त्री का हृदय द्रवित हो जाय। अन्य मंत्रों के लिए द्रष्टव्य—अथर्व-काण्ड ६, अनु० १, सूक्त ४

३. अथर्व० काण्ड ६, अनु० १०, सूक्त ५, मंत्र १, २

४. द्रष्टव्य-अथर्ववेद, सायण–भाष्य-हिन्दी–अनुवाद, रामचन्द्र शर्मा, मुरादाबाद, संवत् १९८६ वि०

मारण और कृत्या

यह स्त्री रूप में कल्पित नाशक शक्ति है जो मंत्रों से संचालित होती है। कृत्या "या = जाना" अर्थ में स्वीकृत है। एक पुतला बना कर उसे मंत्रों से युक्त करते हैं। यह हरी घास में गाड़ दी जाती है। यह अदृश्य रह कर पुरुष पर आक्रमण करती है। यज्ञद्वारा इसका प्रभाव नष्ट किया जा सकता है। नंगे पैर, पगड़ी पहन कर कृत्या जहां पड़ी हो, वहां जाना चाहिए, पवित्र जल छिड़कना चाहिए, इस प्रकार मंत्र-शक्ति से लौट कर कृत्या प्रेषक की हत्या करेगी। इस कृत्या रूप पुतले का सिर काट देना चाहिए, अवयव काट देना चाहिए। वशिष्ठ भी इस कार्य में दक्ष थे।[1]

कृत्या को वापस भेजने के लिए मंत्रों का पाठ अनिवार्य है :—

"हे कृत्ये, तुझे अपम्व मृत्पात्र में अभिचारियों ने किया है या जिस तुझको धूम निकलने से नील और ज्वाला से लोहित अग्नि के स्थान में अभिचारियों ने किया है अथवा तुझको अम्व माँस में अर्थात् कुक्कुट आदि के शरीर में किया है अतः हे कृत्ये ! तू प्रयोक्ता को ही नष्ट कर।[2]

अनजान शत्रु के घर में जो व्यक्ति पीड़क मंत्र औषधि आदि को गाढ़ने आता है, उसी को कृत्या लिपट जाय, जिस प्रकार दुग्ध पान मग्न बछड़ा माता से लिपटता है।[3]

कृत्या का प्रयोग मृत्पात्र, धान्य, अजा, भेड़, कुक्कुट, गर्दभ, पदार्थ, गार्हपत्य अग्नि, अग्नि शाला, सभा, जुए के पाश, सेना, बाण, दुन्दुभि, कूप, श्मशान, अग्नि और पुरुष आदि किसी भी वस्तु पर हो सकता है।[4]

कृत्याएँ दो प्रकार की हैं—१. अंगिरा से आविष्कृत कृत्याएँ और असुरों से आविष्कृत कृत्याएँ जो स्वयं कृत कृत्याएँ हैं और जो दूसरों के द्वारा डाली हुई कृत्याएँ हैं। ये दोनों प्रकार की कृत्याएँ ९० नदियों के पार जावें ऐसा कहा है। कृत्याएं वस्तुतः चार प्रकार की होती हैं प्रथम विभाग में १ आँगिरसी व आसुरी कृत्याएं आती हैं और दूसरी कोटि में स्वयं कृत कृत्याएं। स्वयंकृत कृत्याओं में यदि अ, ब पर कृत्या का प्रयोग करे और किसी त्रुटि से ब पर न पड़ कर कृत्या अ पर ही पड़े तो स्वयंकृत कृत्या हुई। इसी प्रकार दूसरों के द्वारा डाली गई कृत्याएं अन्यकृत हैं। इस प्रकार आँगिरसी, आसुरी, स्वयंकृत व अन्यकृत ये चार कृत्याएं होती हैं।

याः कृत्याः आङ्गिरसीर्याः कृत्याः आसुरीर्याः कृत्याः स्वयंकृता ।
उभयीस्ताः परा यन्तु परावतो, नवतिं नाव्या अति[5]

---

१. The religion and Philosophy of the Athervaveda—by N. J. Shende (Section—Witch craft in Athervaveda)

२. अथर्व—काण्ड ४ अनुवाक ४, सूक्त २ मंत्र संख्या ४

३. अथर्व—काण्ड ४ अनु० ४ सूक्त ३ मंत्र २

४. अथर्व—काण्ड ५, अनु० ६, सूक्त ४ मंत्र १—९

५. अथर्व—८-३-१-१

स्पष्ट है कि दुष्ट जादू में आर्य और अनार्य भेद अथर्व० में विद्यमान था। अन्तर यही है कि आर्य ऋषि प्राय: इन कृत्यादि का प्रयोग रक्षात्मक दृष्टि से करते थे।

असन्मन्त्राद् दुष्वप्न्याद् दुष्कृताच्छमलादुत।
दुर्हार्दश्च क्षुषो घोरात् तस्मान्नः पाह्याञ्जन

हे अञ्जन मणि! अभिचारोपयोगी असत् मंत्रों से, उनसे होने वाले दु:ख से, दु:स्वप्न-जन्य दु:ख से, जन्मान्तर के दु:ख से, दूषित मन से और दूसरों की क्रूर चक्षु से मेरी रक्षा करो।[1]

दर्शन—

ब्रह्म :—अथर्ववेद में २३० बार इस शब्द का प्रयोग हुआ है। अथर्ववेद में ब्रह्म विश्व नियन्ता है। सारे देवसमाज के पीछे वही एक सर्वव्यापक शक्ति है। अथर्व० में आवागमनवाद व कर्मवाद जिनका विकास उपनिषदों में हुआ है, नहीं मिलते। अथर्ववेद का ब्रह्मवाद अत्यधिक प्रौढ़ है। आत्मा और परमात्मा का, पिण्ड और ब्रह्माण्ड का विवेचन चकित कर देने वाला है। डा० शिन्दे ने[2] इस वेद को ब्राह्मण साहित्य व उपनिषद् साहित्य के बीच की शृंखला के रूप में स्वीकार किया है। कम से कम यह निश्चय है कि ब्रह्म आत्मा सम्बन्धी गूढ़ विचारों से सम्बन्धी सूक्तों को अथर्व-संहिता म संकलित कर लेने पर इसे सर्व स्वीकृति मिली है अत: उच्चकोटि का यह दर्शन कुछ समय बाद संकलित हुआ है। क्योंकि अथर्व० में जादू व अंधविश्वासों से पूर्ण क्रियाएँ एक ओर उसे जनता से सम्बन्धित करती हैं तो दूसरी ओर उसमें ब्रह्म, माया, आत्मा के सम्बन्ध में उच्चवर्गीय चिन्तन है।

अथर्व० के इस चिन्तन को तैत्तरीय उपनिषद् में ब्रह्म विद्या का आधार कहा गया है।[3] अथर्व ५-१-१ में ब्रह्म अपने गर्भ का विस्तार करता है। यह ब्रह्म स्वयं अपने आदि तत्त्व में प्रवेश कर गया। इससे स्वर्ण उत्पन्न हुआ। यही हिरण्यगर्भ है। ब्रह्म गाय है जिससे असुरों ने माया का दोहन किया। देवों ने औषधियों, जलों, पिताओं ने स्वाहा मनुष्यों ने कृषि व अनाज, सप्तर्षियों ने तपस्या, गंधर्वों व अप्सराओं ने सुगंधियों का दोहन किया। ऋत्, प्रतिज्ञा, सत्य, तप सब इसी ब्रह्म में हैं। यही ब्रह्म आत्मा है। यही यक्ष है। मनुष्य ब्रह्म की विशेष सृष्टि है, उसमें विश्व का प्रत्येक पदार्थ भर कर ब्रह्म स्वयं उस मनुष्य में प्रवेश कर गया। इस प्रकार अथर्व० इस प्रतीकात्मक कथा से सृष्टि, ब्रह्म व आत्मा के सम्बन्ध को स्पष्ट करता है।

इस विवेचन से एक बात स्पष्ट है कि ब्रह्म का कार्य उसकी शक्ति से होता है, जो शक्ति है तथा माया (जादू) है। डा० शिन्दे का अनुमान है कि जादू के अभ्यासी पुरोहितों

१. अथर्व—काण्ड ४ अनु० २ सूक्त ४ मंत्र ६
२. The religion and Philosophy of Athervavaveda Page 211-12
३. वही-पृष्ठ-वही

ने सहज ही यह कल्पना कर ली होगी कि ब्रह्म भी एक जादूगर है। अथर्ववेद में ब्रह्मन् का अर्थ जादू भी किया गया है अतः जो व्यक्ति इस जादू को जानता है वह उस ब्रह्म को भी जानता है।[१] इस प्रकार अथर्व० के ब्रह्म का, ब्रह्मन् (जादू) से घनिष्ट सम्बन्ध है।

किन्तु यह समस्या का अत्यधिक सरलीकरण है। यह ठीक है कि डा० शिन्दे के अनुमान का आधार अवश्य है क्योंकि दार्शनिक कल्पनाओं को जो विशिष्ट स्वरूप मिलता है, उस पर प्रत्यक्ष जीवन का प्रभाव अवश्य पड़ता है। परन्तु ब्रह्म, आत्मा की एकता, पिण्ड व ब्रह्माण्ड की कल्पना आदि सभी तथ्य अथर्ववेद में दिखाई पड़ते हैं अतः ब्रह्म के सम्बन्ध में इतने स्पष्ट और प्रौढ़ चिन्तन के पीछे केवल भारतीय जादू का अभ्यास नहीं है। अपितु उसके पीछे प्राग्वैदिक युग की मान्यताएँ भी हैं। प्रागैतिहासिक युग में तांत्रिक तत्त्वों पर प्रकाश डालते हुए हमने देखा है कि पिण्ड-ब्रह्माण्ड कल्पना सुमेरियन सभ्यता में ज्ञात हो चुकी थी। सृष्टि की पृष्ठ भूमि में एक चिन्मय सत्ता है, देवता उसी के अधीन हैं, इस प्रकार की कल्पना बहुत प्राचीन है अतः इन मान्यताओं के बीज आर्यों के मस्तिष्क में पहले से ही सुरक्षित थे जिनका विकास अथर्ववेद में दिखाई पड़ता है। माया के सिद्धान्त पर निश्चित रूप से 'जादू' का प्रभाव पड़ा होगा और हम यहाँ डा० शिन्दे से सहमत हैं।

शक्ति-सिद्धान्त

माया को ब्रह्म की शक्ति माना जाता है। ब्रह्म की अनेक शक्तियां हैं। अतः शक्ति व शक्तिमान में वही भेद है जो सूर्य की किरणों व सूर्य में। प्रश्न यह है कि तंत्रों के मुख्य आधार—शक्ति शक्तिमान की कल्पना का कौन सा रूप अथर्व० में मिलता है। यद्यपि अथर्व० में कालिका[२] व लक्ष्मी,[३] इन्द्राणी[४] आदि शक्तियों का वर्णन है परन्तु अथर्व-दर्शन में ब्रह्म अपनी माया से ही सम्पूर्ण कार्य कर लेता है। इस माया या शक्ति के अनेक भेद करके जिस प्रकार तंत्र सृष्टि-प्रक्रिया समझाते हैं, वैसे यहाँ नहीं समझाया गया परन्तु फिर भी हम तांत्रिक शक्तिवाद का पूर्व-रूप यहां अवश्य पाते हैं। डा० सुधेन्दु कुमार दास के अनुसार शक्तिवाद का प्रथम रूप ऋग्वेद में "शची" के रूप में प्राप्त होता है।[५] इन्द्र के

१. The practice of magic leads to the attainment of the miraculous power Brahman. By means of Such power one rules over and controls the entir creation. Thus one,. who is possessed of the Brahman (Miraculous Power) Kmows the Brahman --ibid. Page 217।

२. अथर्व० काण्ड ५, अनुवाक १, सूक्त २ मंत्र ६—

३. अथर्व० काण्ड ५ अनु० ३, सूक्त २ मंत्र ६

४. अथर्व० काण्ड २ अनु० ५, सूक्त ६ मंत्र ४

५. Sakti in Vedie literature, calcutta, 1934, Page (10).

साथ अनेक बार ऋग्वेद में शक्ति शब्द का प्रयोग मिलता है। ऋग्वेद के ऋषि डा० दास के अनुसार शक्ति शब्द के स्थान पर शची शब्द का प्रयोग करते थे।[1] शची और वाक् को भी ऋग्वेद में एक मान लिया गया है।[2] सरस्वती व वाक् की एकता तो प्रसिद्ध ही है। वैदिक छन्द गायत्री जगती आदि भी शक्तियों के रूप में स्वीकृत हैं। सरस्वती, इड़ा, भारती की वाक् शक्ति से एकता मिलती है जो आगे चल कर ब्रह्मा की पत्नी के रूप में स्वीकृत होती है।

अथर्ववेद में वाक् और विराज् की एकता प्रतिपादित की गई है।[3] वाक् ही मंत्रों की माता है, शब्द से ही इस नाम रूपात्मक जगत की उत्पत्ति हुई है। आगे के तंत्रों में नाद और बिन्दु की कल्पना का सम्बन्ध ऋग्वेद के आम्भृणी सूक्त व अथर्व के वाक् सूक्त से है। अक्षर समूह को तंत्रों में मातृका कहा गया है, यह हम कह चुके हैं। मातृका माता है, उसी के गर्भ से निखिल जगत की सृष्टि हुई है। वाक् या नाद का सम्बन्ध केवल बाह्य शब्द से ही नहीं है, अपितु ब्रह्माण्ड व्यापी नाद व पिण्ड व्यापी नाद से भी है अतः वाक् जिस प्रकार ब्रह्माण्ड में व्याप्त है, तथैव पिण्ड में भी वह व्याप्त है। इसी पिण्ड व्यापी नाद को जागृत करने के लिए योग की आवश्यकता है। और इस योग का भी प्रथम रूप अथर्ववेद में प्राप्त होता है।

परावाक्

प्रथम अभिलखित अर्थ को कहने के इच्छावान् पुरुष के तद्वाचक शब्द के उसकी इच्छानुसार उत्पन्न हुए प्रयत्न से मूलाधार में प्राण—वायु का परिस्पन्द होता है। उस परिस्पन्द से मूलाधार में सकल शब्दों की मूल कारणभूत स्पन्द-रहित सूक्ष्म परावाक् आविर्भूत होती है। यही परावाक् मूलाधार से ऊपर नाभिस्थान में प्राप्त हुई सामान्य ज्ञानरूपा विवक्षित पदार्थ के दर्शन के कारण पश्यन्ती कहलाती है। यही वाणी हृदय देश को प्राप्त हुई किसी अर्थ को निश्चय—बुद्धि से युक्त—मध्यदेश में अवस्थान करने के कारण मध्यमा कहलाती है। वही तालु आदि स्थानों में वर्णरूप में प्रकट होती हुई विशेष रूप से दूसरे व्यक्ति के ज्ञान के लिए प्रचण्ड होने के कारण वैखरी कहलाती है। यहां परा, पश्यन्ती, मध्यमा इन तीन अवस्थाओं में विद्यमान शब्द, देह के मध्य में होने से अस्फुट होने के कारण विवक्षित अर्थ को अन्य व्यक्ति को प्रकट नहीं करता। केवल वैखरी वाणी ही शब्दार्थ को व्यक्त करने में समर्थ है। ऋग्वेद में भी कहा गया है कि "गुहा त्रीणि निहिता नेंगयंति तुरीयां वाचो मनुष्या वदन्ति" (ऋग्वेद-१-१६४.५) अर्थात् तीन शब्द गुहा में स्थित रहते हैं अतएव कुछ चेष्टा नहीं करते हैं और चौथे स्थान में स्थित शब्द को ही वाणी कहते हैं।

---

१. वही-पृष्ठ—११
२. वही-पृष्ठ--१४
३. अथर्व—८, १०, १२, १३, वही पृष्ठ २४

निरुक्त-परिशिष्ट १—९ में कहा गया है कि गुहायां त्रीणि पदानि निहितानि नार्थं वदन्ते। आगमों में भी इसी को स्वीकार किया गया है।

स्वरूपं ज्योतिरेवान्त: परावाग् अनपायनी। यस्यां दृष्टस्वरूपायां अधिकारी निवर्तते। अविभागेन वर्णानां सर्वत: संवृतकामा। प्राणाश्रयात् तु पश्यन्ती मयूराण्डरसोपमा। मध्यमा बुद्धयुपादानात् कृतवर्णा परिग्रहा। अन्त: सञ्जल्प रूपा तु न श्रोत्रमुपसर्पति। ताल्वोष्ठ व्याकृति व्यङ्ग्या परबोधप्रकाशिनी मनुष्यमात्र सुलभा बाह्या वाग् वैखरी मता।

अर्थात् अन्त: ज्योति: स्वरूप ही अनपायनी परावाक् है। उसके स्वरूप दर्शन होने पर अधिकार निवृत्त हो जाता है। मयूर के अण्डे के रस के समान वर्णों में अविभाग रूप से संवृत क्रम वाली वाणी प्राण का आश्रय करने से पश्यन्ती कहलाती है। बुद्धिरूप उपादान वाली वर्णों को ग्रहण करने वाली वाक् मध्यमा कहलाती है। वह आंतरिक कथन के रूप में होती है। किसी के कान के पास नहीं जाती है। और तालु ओष्ठय आदि के स्पर्श से प्रकट होने वाली दूसरे को बोधित रूप में प्रकाशित होने वाली मनुष्य मात्र को सुलभ बाह्य वाणी ही वैखरी है।[1]

वाणी की इन चार अवस्थाओं को तुरीय, सुषुप्ति, स्वप्न और जागृत अवस्थाओं से सम्बद्ध किया गया है। इनमें प्रथम अवस्था श्रेष्ठ है। क्योंकि वाक् का आदि कारण ब्रह्म है। अत: वाक् शक्ति व ब्रह्म एक ही तत्त्व है। ब्रह्म प्रथम परावाक् में ही प्रकट होता है अत: इसे "प्रथमो वाचो अग्रम" कहा गया है।[2]

सायणभाष्य के आधार पर उपर्युक्त अर्थ किया गया है। यदि यह स्वीकार किया जाय तब तो तंत्रों के सारे दार्शनिक विचार यहीं पुंजीभूत दिखाई पड़ते हैं। परन्तु यह स्वीकृत न होने पर भी यह स्पष्ट है कि अथर्ववेद के इस सूक्त में शक्ति उसके स्फुरण तथा शक्तिमान ब्रह्म से उसके सम्बन्ध का रूप यहां बीज रूप में प्राप्त है,[3] यह निश्चय है। पिण्ड व ब्रह्माण्ड का विवेचन भी यहां संकेतित है।

---

१. अथर्व—काण्ड ७ अनुवाक १, सूक्त १, रामचन्द्र शर्मा द्वारा हिन्दी अनुवाद, मुरादाबाद १९८६।

२. एतरेय आरण्यक (१-३-३)।

३. अथर्व में ऋषि कहता है कि जगत का उपादान करण क्या है? और अन्त में ब्रह्म की विचित्र शक्ति को ही कारण मानता है और यह शक्ति विचित्र होने से एक ही ब्रह्म का कर्त्तृत्व व कर्मत्व बन जाती है। शैवतंत्रों में यह विचित्र स्वतंत्र शक्ति ही परमशिव की स्वेच्छा से जगत की लीला रचती है—

द्रष्टव्य—अथर्व काण्ड १०, अनु० ४, सूक्त ५, मंत्र २।

इसके अतिरिक्त इसी सूक्त के मंत्र ६-१० में ज्ञान परक अर्थ करने का प्रयत्न मिलता है। हिंसापूर्ण यज्ञों व अनेक अर्थहीन क्रियाओं में मग्न समाज को यहां इस प्रकार सावधान किया गया है—

मुग्धा देवा उत शुनयजन्तोत गोरङ्गैः पुरधायजन्त।
य इमं यज्ञं मनसा चिकेत, प्रणो वोचस्तमिहेह ब्रुवः।

अर्थात् कार्य और अकार्य रहित यजमानों ने कुत्ते व गाय के मांस से भी यज्ञ किया है। जो विद्वान यष्टव्य परमात्मा को मन से जान चुका हो, ऐसे गुरु को ध्यान देकर बताइए, इसी समय आप परमात्मा के स्वरूप को कहिए[1]।

इस प्रकार के मंत्रों से स्पष्ट है कि अथर्ववेद में एक ओर तो यातु, और घोर तांत्रिक क्रियाओं का प्रचार था तो दूसरी ओर ज्ञाननिष्ठा भी जागृत हो रही थी अतः ज्ञाननिष्ठा के मंत्रों का समय स्पष्टतः बाद का है, क्योंकि इनमें तत्कालीन मूढ़ विश्वासों का खण्डन कर आत्मनिष्ठ होने का उपदेश है।

यही आत्म निष्ठता उपर्युक्त मंत्र में वर्णित है। पिण्ड व ब्रह्माण्ड में व्याप्त वाक् शक्ति की अभ्यर्थना अन्यत्र भी है।[2]

इसी वाक् शक्ति को (अथर्व० १४, ६, ३) देवीपरमेष्ठी कहा गया है।

"इयम् या देवो परमेष्ठिनी वाक्देवी ब्रह्मसंहिता"

अथर्व काण्ड ६, अनु० ५, सूक्त २, मंत्र ७ में भी गुह्य वाणियों की ओर संकेत किया गया है। इसी सूक्त के १५वें मंत्र में कहा गया है कि इस जगत के कारण रूप ब्रह्म को स्पष्टतः नहीं समझा जा सकता। अतः वाणी की प्राप्ति की इच्छा प्रकट की गई है।[3]

पिण्ड-ब्रह्माण्ड कल्पना की इससे स्पष्ट घोषणा और क्या हो सकती है जिसमें आत्मा रहती है—

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषा वृतः।

आठ चक्र और नौ द्वार वाली देवताओं की (इन्द्रियों की) यह अयोध्या पुरी है। उसमें हिरण्यमय स्वर्गप्रद कोश ज्योति से आवृत है।

तस्मिन् हिरण्यये कोशेत्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन् तद् यक्ष्मात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः।

---

१. अथर्व०—काण्ड ७, अनु० १, सूक्त १, मंत्र १०।
२. अथर्व०—काण्ड ७ अनु० ४, सूक्त १, मंत्र ८।
३. न वि जानामि, यदि वेदमस्मि निण्यः संनद्धो मनसा चरामि।
यदा भागन प्रथमजा ऋतस्यादिद् वाचो अश्नुवे भागमस्याः।

उस स्वर त्रिप्रतिष्ठित हिरण्यमय कोश में जो पूजनीय आत्मा का स्थान है उसको ब्रह्मवेत्ता जानते हैं।[१]

गुह्य-ज्ञान-रूपक परम्परा

गुह्य ज्ञान का अर्थ है योनि अर्थात् कारण का ज्ञान प्राप्त करना। ब्रह्म ही जगत की योनि है और योनि से ही विश्व प्रकट हुआ है। इस योनि-कोश का ज्ञान आवश्यक है।

कुलायेधि कुलायं कोशे कोशः समुब्जितः।
तत्र मर्तो विजायते यस्माद् विश्व प्राजयते।[२]

कुलाय में कुलाय है और उस कोश में गर्भ कोश है। उसी से मरणधर्मा उत्पन्न होता है। उसी से सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न हुआ है।

इसी प्रकार की उक्तियों की परम्परा से ही आगे प्रतीकात्मक पद्धति तंत्रों में विकसित हुई है जिससे दार्शनिक रहस्यों को चक्करदार शैली में कहा जाता है।

इसी प्रकार 'अष्टाचका नवद्वारा देवानां पूरयोध्या' आदि मंत्रों में भी इसी गोपनीय पद्धति का प्रयोग किया गया है। सिद्धों, तांत्रिकों तथा हिन्दी के सन्त कवियों की रूपक परम्परा का सर्वप्रथम स्रोत भी वैदिक साहित्य में ही प्राप्त होता है, यह स्पष्ट है।

अन्यत्र भी रूपक पद्धति को अपनाया गया है—सबको जानने वाले निरावरण ज्ञान ईश्वर अर्थात् मन्यु ने सृष्टि की इच्छावस्था माया शक्ति (रूपी) जाया को संकल्प के घर से विवाहा। तप व कर्म ही वरपक्ष व कन्यापक्ष के बन्धु थे और ये ही वरयिता (बराती) थे और जो ब्रह्म है वह माया शक्ति रूपी जाया को लाने वाला ज्येष्ठ वर (उद्धार कर्त्ता) था।[३]

इस प्रकार इस गुह्य-ज्ञान अर्थात् प्रजनन के अंगों तथा काम वासना को सृष्टि का आदि कारण मानने वाले शैवों व शाक्तों के चिंतन का मूलाधार अथर्ववेद में प्राप्त होता है। और इसकी अभि व्यक्ति की गोपनीय पद्धति भी यहाँ सुरक्षित है।[४]

काम-तत्त्व

अथर्ववेद में कामतत्त्व अत्यधिक गूढ़ है। कहा गया है ब्रह्म की शक्ति माया है। माया के बाद मन उत्पन्न हुआ है। और तत्पश्चात् सृष्टि-इच्छा = काम उत्पन्न हुआ। काम देश कालादि से रहित ब्रह्म की सृष्टि-इच्छा का नाम है और चूँकि जीव भी ब्रह्म

१. अथर्व—काण्ड १०, अनु० १, सूक्त २, मंत्र ३१, ३२।
२. अथर्व-काण्ड ६, अनु०—२, सूक्त १, मंत्र २०
३. अथर्व-काण्ड १०, अनु० ४, सूक्त ४, मंत्र १, २
४. यह गोपनीय पद्धति जिसे हम "द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्षं" उपनिषद्-मंत्र में खोजते हैं वह भी अथर्व० काण्ड ६, अनु० ४, सूक्त १ मंत्र २० में प्राप्त है अतः तंत्रों की अभिव्यंजना पद्धति का प्रथम रूप भी वेद में ही मिलता है।

ही है अतः जीव द्वारा प्रजनन की इच्छा भी 'काम' कहलाती है। सर्ग-इच्छा ही कामोत्पत्ति है।

कामस्तदग्रे समवर्तत, मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
स काम कामेन बृहता सयोनी, रायस्पोषं यजमानाय धेहि ।।

काम विद्यमान था, उससे पूर्व मन विद्यमान था। काम परमेश्वर की सयोनि है। परमेश्वर के व्यतिरिक्त अंतःकारण से रहित है। ऐसा तू धन प्रदाता व हविः प्रदाता काम! यजमान के लिए धन की पुष्टि कर।[१]

स्पष्ट है कि काम मनोमूलक है और सर्गेच्छा ही इसका उद्देश्य है।[२] काम का प्रयोग अथर्ववेद में सभी प्रकार की इच्छाओं के लिए हुआ है परन्तु सर्गेच्छा इनके मूल में अवस्थित रहती है। काम दुःस्वप्न का शत्रु है।

काम दुरित, प्रजाहीनता, अस्वगता और वृत्ति की अभावरूपा दरिद्रता का नाशक है। काम उग्र है और वही ईश है।[३]

वाक् का काम से नित्य सम्बन्ध है। क्योंकि वाक् भी सर्गेच्छा का परिणाम है। अतः धेनु (वाणी) काम की पुत्री है। यह काम सर्व प्रथम उत्पन्न होता है। इसकी समता देवता पितर नहीं कर सकते। काम सम्पूर्ण को प्राप्त होने वाला है और वह श्रेष्ठ और महान् है।

कामो जज्ञे प्रथमो, नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वता महांस्तस्मै ते काम नम इति कृणोमि।[४]

काम का शरीर कल्याण कारक है, वह जिसका वरण करता है, वह सत्य होता है। वह काम अपने शरीर रूप बुद्धि से हममें प्रवेश करे और वह अपनी पाप बुद्धि को हम से अलग रखे।[५]

काल व प्राण-सिद्धान्त

प्राणानुशासन तंत्र का एक प्रमुख विषय है। प्राण पर विजय करने से काल पर विजय होती है। क्योंकि काल ही प्राण के रूप में पिण्ड में विद्यमान है। प्राण के उत्क्रान्त होने पर काल का उत्क्रमण होता है। अत. योग में काल व प्राण का महत्त्व बहुत अधिक है।

---

१. अथर्व० काण्ड १९ अनु० ७ सूक्त १ मंत्र १
२. काम मंगल से मंडित श्रेय, सर्ग इच्छा का है परिणाम-कामायनी, जयशंकर प्रसाद
३. अथर्व-काण्ड ९, अनु० १ सूक्त २ मंत्र १-२-३
४. ,, ,, ,, ,, मंत्र ५, ६, १६, १९
५. ,, ,, ,, ,, मंत्र २५

अथर्ववेद में कहा गया है कि सब प्राण के ही वशवर्ती हैं। वह प्राण ध्वनि करने वाला है। विद्युत रूप में चमकता है और वर्षा करता है।[1] पूर्ण शरीर में व्याप्त प्राण ही हंस है।' हन्तिगच्छतीति हंसः। जगत्प्राण—प्राणवृत्ति से ऊपर को जाता हुआ अपान वृत्यात्मक एक पाद को नहीं उठाता है। यदि वह प्राण उस अपान वृत्यात्मक पाद को भी उठा ले तो प्राण पूर्ण रूप से शरीर से निकल जाने पर आज, कल, रात्रि, दिन आदि काल विभाजन न हो। और अंधकार की निवृत्ति भी कभी न हो, अतः जगत की सजीवता के लिए एक पाद को प्राण नहीं उठाता।

एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन्।
यदङ्ग स तमुत्खिदेन्नैवाद्य न श्वः स्यान्न रात्री नाहः
स्यान्न व्युच्छेत् कदाचन।[2]

यह त्वचा और ओज आदि आठ चक्र हैं जिनमें धुरी प्राण है।' इसी प्राण परिस्पन्द से अनेक वर्ण वर्णात्मक शब्द व रूप उत्पन्न होते हैं। प्राण ही प्रवृत्ति व निवृत्ति का कारण है।

ऋग्वेद में कहा गया है कि ब्रह्म का एक पाद सकल प्राणी है और इस के तीन पाद स्वर्ग में हैं।[3]

काल

प्राण की तरह काल का वर्णन भी अथर्ववेद में अद्भुत है। काल अश्व है।' वह सात रस्सियों, सहस्र लोचनों, और भूरि वीर्य वाला है। यह अपने सवारों को उचित स्थान पर पहुँचाता है।

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः
तमारोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा[4]

इस काल पर चतुर ही चढ़ते हैं। अश्व के चक्र ही भुवन हैं। काल ही परमेश्वर है। सप्तरश्मि का अर्थ है सात ऋतुएँ (६ ऋतुएँ + १ अधिमास)। इस काल को बुद्धिमान अधीन रखते हैं। और जो अधीन नहीं रखता वह गंतव्य पर नहीं पहुंच पाता।

इसीलिए योग में काल पर विजय प्राप्त की जाती है।

यह काल प्राणियों को प्रकट करता है। यह काल भुवनों में व्याप्त है। वही इन प्राणियों का जनक है। अतः पिता रूप से या पुत्र रूप से काल ही माना जाता है। काल ही सबसे अधिक तेजवान है।[5]

---

१. अथर्व—काण्ड ११ अनु० २ सूक्त ४ मंत्र १, २
२. अथर्व—काण्ड ११, अनु० २, सूक्त ६ मंत्र १
३. ऋग्वेद—१०–९०–३ (पादोऽस्य विश्वाभूतानि, त्रिपादस्यामृतं दिवि)
४. अथर्व—काण्ड १९, अनु० ६ सूक्त ८ मंत्र १
५. अथर्व—काण्ड १९, अनु० ६ सूक्त ८ मंत्र ४

जगत की रचना की इच्छा काल में ही सम्भव होती है। उसमें ही सब जगत अंतर्यामी प्राण रहता है। अथवा इसी काल में परमात्मा में सब जगत के मन व पञ्च-वृत्तिक प्राण रहते हैं। नाम भी उसी में है और ऋतुओं आदि के रूप में स्थित काल द्वारा ही प्रजाएँ संतुष्ट होती हैं। जगत काल की उत्पत्ति है। काल ने ही सृष्टि के आदि में प्रजापति को उत्पन्न किया था। काल से ही जल प्रकट होता है, वायु चलती है, सूर्य उदित होता है।[1]

सारांश

(१) अथर्ववेद में जादू, धर्म और दर्शन की प्रधानता है।

(२) जादू और धर्म का मिश्रित रूप अथर्ववेद की विशेषता है।

(३) तांत्रिक सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान व क्रिया में अंतर नहीं है अतः तंत्रों में ज्ञान रहित क्रिया का महत्त्व नहीं है। ज्ञान से सिद्धि होती है, केवल क्रिया से नहीं जबकि जादू में क्रिया की प्रधानता है जिसका आधार अनुमान है जो सादृश्य और सम्पर्क के सिद्धान्तों के नाम से प्रसिद्ध है। अथर्ववेद में जादू से सम्बंधित क्रियाएँ अनेक हैं, जादू का यह रूप तंत्र साधना का प्रथम रूप है जो प्राग्वैदिक युगों में भी प्रचलित था। तंत्रसाधना में इन क्रियाओं के साथ ज्ञान का समवाय सम्बन्ध स्थापित किया गया और अथर्ववेद में सिद्धि के लिए प्राप्त क्रियाओं के अतिरिक्त अन्य अनेक क्रियाओं की कल्पना की गई। अतः अथर्ववेद में प्राप्त जादू तांत्रिक-युग की साधनाओं के प्राचीन रूप को स्पष्ट करता है। अथर्व-युग में जादू की प्रधानता थी जिसमें अंधविश्वास अधिक था, तंत्रों में साधना मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक हो गई अतः तंत्रों में बाह्य क्रियाएँ आंतरिक सत्यों की एक ओर तो प्रतीक हैं तो दूसरी ओर वे आंतरिक शक्तियों की जागृति में साधन मात्र। जादू में चमत्कार प्रदर्शन की जो मूल-भूत भावना अथर्ववेद में मिलती है, वह तंत्रों में सुरक्षित है। पारमार्थिक तत्त्व के साथ एकाकार होने के लिए, अनेक क्रियाओं द्वारा, शक्तियों की जागृति आवश्यक है। पुरुष शक्ति व स्त्री शक्ति की एकता से परमार्थ प्राप्त होता है और परमार्थ के प्रति उन्मुखता से लेकर साक्षात्कार तक, शक्तियों के जाग्रत हो जाने पर चमत्कार स्वतः प्रकट होने लगते हैं, यह तंत्र का निश्चित सिद्धांत है यहीं जादू व तंत्र में अंतर प्रकट हो जाता है। जादू का चमत्कार मात्र व्यावहारिक क्रियाओं पर आधारित हैं और तांत्रिक चमत्कार मनस्साधना पर। परन्तु चमत्कार दोनों क्षेत्रों में मिलता है अतः तंत्र के अध्ययन के लिए अथर्व० के जादू का अध्ययन अनिवार्य है।

(४) राक्षसों, असुरों, अप्सराओं, गंधर्वों आदि अवैदिक धर्म-मतावलम्बियों के साथ तंत्र का निश्चित सम्बंध रहा है, परन्तु यह प्रमाणित नहीं होता कि अथर्वयुग में तांत्रिक साधना पूर्णतया विकसित हो चुकी थी। सम्भवतः गुरु, शिष्य परम्परा से वह जादूगरों, आर्य पुरोहितों, राक्षसों, असुरों आदि के किसी वर्ग विशेष में प्रचलित रही

१. अथर्व० काण्ड १९, अनु० ६, सूक्त ८ मंत्र ७, ८, ९, १०

हो परन्तु उसका निश्चित रूप अथर्व० में वर्णित नहीं है किन्तु ऐसे संकेत अवश्य मिलते हैं, जिससे यह अनुमान पुष्ट होता है कि ७, ८वीं शताब्दी में विकास को प्राप्त शैव, शाक्त, तथा बौद्ध साधनाओं से अथर्व युग में कुछ आर्य और अनार्य दोनों परिचित थे, परन्तु गुह्यता के कारण उनका वर्णन नहीं मिलता। गुरु-शिष्य परम्परा से जो साधनाएँ अथर्व-युग से ही विकसित होती आ रही थीं, उन्हीं का अंतिम रूप तांत्रिक-युग में दिखाई पड़ता है। यही कारण है कि अभिनवगुप्त ने असुरों, निशाचरों के साथ-साथ राम, लक्ष्मण आदि आर्यों को भी गुरु-शिष्य परम्परा में स्वीकार किया है। कौलों, कापालिकों, शाक्तों आदि में शक्ति-साधना —काम क्रीड़ा द्वारा ही परमतत्त्व के साक्षात्कार की प्राप्ति पर ज़ोर दिया गया है और साथ-साथ हठयोग भी स्वीकृत है। अथर्ववद में हठयोग भी के प्रमाण तो अनेक हैं परन्तु 'काम' का महत्त्व स्वीकृत होने पर भी "काम क्रीड़ा द्वारा" मुक्ति प्राप्ति का निश्चित वर्णन नहीं मिलता परन्तु संकेत अवश्य मिलते हैं।

(५) दार्शनिक सिद्धान्तो की दृष्टि से तंत्र के प्रायः सभी सिद्धान्तों का पूर्वरूप अथर्ववेद में दिखाई पड़ता है। शक्ति व शक्तिमान् की कल्पना, शिव (ब्रह्म), रावाक् पिण्ड व ब्रह्माण्ड की रचना में साम्य, कामतत्त्व, कालतत्व, प्राणतत्त्व, योग आदि सिद्धान्त अथर्ववेद में प्राप्त होते हैं परन्तु शक्ति व शक्तिमान के अनेक भेदों द्वारा, नाना रूपों की कल्पना करके, उनकी सिद्धि के लिए नाना विधानों की पद्धति जो तंत्रों में मिलती है, तथा 'मातृका', हठयोग, कामतत्त्व का जो विस्तार तंत्रों में किया गया है वह अथर्व० में नहीं मिलता परन्तु वामाचार में मद्य, माँसादि के प्रयोगों से लेकर, उच्च से उच्च सिद्धान्तों तक अथर्ववेद में बीज रूप में सुरक्षित हैं। यह उपर्युक्त शोध से स्पष्ट है।

टिप्पणी--१

हिंदी के एक अज्ञात कवि "जनराज"

हिन्दी के अंधकारमय वृहद् कोषागार में न मालूम कितने अज्ञात उज्ज्वल कविरूप रत्न इधर-उधर बिखरे पड़े हैं, जिनकी चमक समय की लाख धूल पड़ने पर भी अभीतक कम नहीं हो पाई है और जब कभी भूल-भटके इधर-उधर से वे हाथ आजाते हैं तो अपनी धूमिल प्रभा से आँखों को चोंधियाते हुए हृदय पर एक ऐसी अमिट छाप छोड़ जाते हैं, जो मिटाये मिटती नहीं, भूलाये भूलती नहीं, बराबर मन को कचोटा करती हैं। 'जनराज' हिन्दी के एक ऐसे ही कवि रत्न हैं, जो इतिहास के पन्नों पर अदृश्य हैं, किन्तु उनमें अपूर्व चमक है, समृद्ध साहित्यिक वैशिष्ट्य है और अपना काव्य का ज्ञान भंडार भी है।

कवि 'जनराज' का पूर्व नाम—"ढेढ़राज" था, जो आगे चलकर काव्य-गुरु-द्वारा संस्कार होकर "जनराज" में परवर्तित हो गया। ये जयपुर (राजस्थान) के निवासी, जाति के अग्रवाल वैश्य और कविवर "कृष्ण कवि" के शिष्य थे, जैसा कि उन्होंने अपने आत्म चरित रूप में लिखा है, यथा:

"अब में अपनों कुल कहों, उपज्यो जाँमें आँनि।
अग्गर वारौ बसै है—सिंगल गोत बखाँनि।।
गड़वाड़ौ इक ग्राँम जो, बासी आदि सुजाँन।
हिरानँद तिनकें भए, कृपा राँम सुख दान।।
दयाराँम तिनके सुवन, आए जैपुर ग्राँम।
तिनके हों मतिमंद भौ, 'ढेढ़राज' भो नाँम।।"

और काव्य-गुरु के प्रति आपका कहना है:

"भागचंद अजमेर के, विप्र दाहिमाँ जाति।
तिनकें सुत भौ कृष्ण कवि, बड़ें मती अवदाति।।
तिन मो पर करिकें कृपा, कबिता दई बताय।
ताके पाय प्रसाद में, रचन लग्यौ कविताय।।"

कवि जनराज ने दो ग्रंथ—"कविता रस-विनोद" और "कृष्णलीला-रस विनोद" नाम के लिखे हैं। ये दोनों ग्रंथ बहुत दिन हुए जब स्वर्गीय पं० मायाशंकर याज्ञिक (अलीगढ़) के वृहद् पुस्तकालय में देखने में आये थे। समय उन्हें भुला-ही चुका था कि आज **प्रथम ग्रंथ** 'कवितारस विनोद' फिर देखने में आया है।

कवितारसविनोद सं० १८३३ वि० में रचा गया एक वृहद 'रीति-शास्त्रग्रंथ है, जो चौबीस विनोदों (अध्यायों) और दो हजार पच्चीस छंदों में समाप्त हुआ है, यथा :

"चौबीस किए बिनोद में, ता में रचे सुछंद।
द्वै हजार पच्चीस गनि, भए सकल रसकंद ॥"

"अट्ठारह सै तेतीस भए सुभ संबत जेठ सुमास बखाँनों।
सेत सुपच्छ तिथू दसमी, अरु वार भहाबर भौम सु जाँनों ॥
हस्त नच्छत्र औ सिद्धि सुजोग विषै 'जनाराज' कहै उर-आँनों।
यै कविता रस ग्रंथ बिनोद, सँपूरन भेद कियौ सुखदाँनों ॥

ग्रंथ काव्य-शास्त्र के सभी अंगों पर लिखा गया है, जैसे—"काव्य-प्रयोजन, काव्य-लक्षण, छंदप्रयोजन, उसके विविध भेद, गुरु-लघु का भेद, मात्राछंद, उनका प्रस्तार, गण-भेद, मेरुमर्कटी, गणागण विचार, छंद नाम-संख्या-आदि के बाद छंदों के अंग, उत्तमादि-काव्य—लक्षणा, व्यंजना, ध्वनि, मध्यमकाव्य—अर्थालंकार, शब्दालंकार, गुण, दोष—पद-दोष, रस-दोष, वाक्य-दोष, अर्थदोषादि···, रसभेद, विभाव, अनुभाव, संचारीभाव, स्थायीभाव, शृंगार रस वर्णन—संयोग शृंगार (नायक-नायिका-वर्णन), हाव, उद्दीपन (सखा, सखी, दूती, नख-शिख) षट् ऋतु के अनंतर विप्रलंभ-शृंगार—पूर्वानुराग, दशा, व्याधि, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, वीभत्स, भयानक, अदभुत, शांतरस, वृत्तियाँ, चित्रालंकार-आदि-आदि··· ।" यह संपूर्ण काव्य-विवरण तेईस विनोदों (अध्यायों) में बाँटा गया है। चौबीसवें विनोद में जहाँ ग्रंथ रचा गया, उसका विवरण है। साथ-ही उसमें प्रथम राज वर्णन, कविदेश, नगर वर्णन, कवि-वंशवर्णन, गुरुवंश और उसकी महिमा, ग्रंथ-प्रयोजन के साथ ग्रंथ-निर्माण संवत् छंद संख्या और शुभाशीर्वाद का कथन किया गया है।

हिंदी साहित्य के अथ से लेकर इति तक के इतिहास ग्रंथों में कवि का इतिवृत्त नहीं मिलता। बाद में पूर्व स्मृति को झझोड़ता हुआ कवि चरित्र 'डा० भगीरथ मिश्र के "हिंदी काव्य-शास्त्र" के इतिहास[1] में और उसके बाद "काशी नागरी प्रचारिणी सभा-द्वारा प्रकाशित" हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों का पंद्रहवाँ त्रैवार्षिक विवरण"[2] (सन् १९३३-३४ ई०) में देखने को मिला है। जनराज के इस 'कवितारस-विनोद' ग्रंथ के संबंध में डा० मिश्र ने

१. पृ० १५३। २. पृ० १७७।

लिखा है—"यह पुस्तक डा० भवानीशंकर जी याज्ञिक लखनऊ के पास देखी है[1] । भवानीशंकरजी स्वर्गीय मायाशंकर जी के लघु भ्राता हैं, अतः पुस्तक वही पुरानी देखी हुई है, जोकि संवत् १९०९ की लिखी है ।

स्वर्गीय याज्ञिक जी के पास हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों का बहुत बड़ा भंडार था, जिसके कुछ ग्रंथ-रत्नों को रखकर उनके भाइयों—श्री जीवनशंकरजी और भवानीशंकरजी ने काशी की स्वनामधन्य संस्था "नागरी प्रचारिणी सभा" को दे दिया । किन्तु ग्रंथ का विवरण 'गोकुल' (मथुरा) से उस समय लिया गया है,[2] जबकि स्वर्गीय याज्ञिक जी वहाँ के प्रसिद्ध मंदिर "गोकुलनाथजी" के अधिकारी थे । इधर जो प्रति मिली है उसमें ग्रंथ-लेखन संवत् नहीं है, फिर भी वह स्वर्गीय याज्ञिक जी की प्रति से पुरानी है, वह कवि (रचयिता) के हाथ की लिखी है, जैसे :

"इति श्री विविध विध कवितारस विनोंद जनाराज वैसे विरचितायां ग्रंथ संपूर्ण कर्नन नांम चतुर्विसों विनोद । २४ । इति श्री जनाराज कृति कविता रस विनोद संपूरन समापिता । लिष्यते ढेढ़राज वैसे निज पठनार्थे । पृष्ठ संख्या—२५२ ।"

ग्रंथ का प्रारंभ मंगलाचरण रूप "गणेश-वंदना" से इस भाँति प्रारंभ होता है :

"गवरिनंद जगबंद कों, बंदत हों करि हेत ।
बुद्धि प्रकासन बिबिध बिधि, ग्रंथ उक्ति बर देत ।।

बदन मत्त मातंग संग सिंदूर पूरियल ।
कँनक जटत मनि मुकटि भाल भल कित्त चंदकल ।।
कुंडल करन उमंडि गंउ मंडल मद बरसत ।
लोचन कंज बिसाल दंत उज्जल इक दरसत ।।
बल प्रचंड भुज दंड करि खल अखंड खंडन करन ।
"जनरज्जि सदां नव खंड के बुद्धि-हेत बंदत चरन ।।"

इसके बाद सरस्वती और गुरु बंदना "अमृत ध्वनि" छंद में की गयी है । छंद वीर-रस का है, किंतु कवि ने कितने सुन्दर शब्द-प्रयोग से उसे शांत-रस के उपयुक्त बनाया है, वह दर्शनीय है, यथा :

"धरि धन धवत प्रचंड खल, सुमति मंउ रस पुंज ।
बंदत जिहि 'जनरज्जि' भनि चरन अरुन सम कंज ।।
कंजिज्जुगल सुमंजिज्जिग रतरंज्जिन मन ।
गंजिज्जसन सुभजिज्ज रिभवज ज्जिजगयन तन ।।

१. दे० पृ० १५३ टिप्पणी । २. पृ० १७७ ।

अग्गिगमन तविग्गि गहत उमग्गिग्गुन-गन ।
सद्धद्धर महि सद्धद्धरम अगग्ग द्धद्धरिघन ।।"

और अंत:

"कविता रसहि विनोद यह पढ़ै सुनें कवि लोग ।
सभा-मद्धि सोभा लहैं, वहै सुबांछित भोग ।।
कविता रस यह ग्रंथ में: कियौ जु मति अनुसार ।
बरनत भूल परै जहाँ, लीजो सुकबि सुधार ।।
कहूँ न जाँचन कों कियौ, कियौ भजन में गाय ।
आने प्रेम-प्रभाबते, रच्यौ ग्रंथ सुख दाय ।।"

कविता रस विनोद के प्रति डा० मिश्र लिखते हैं--"कविता रस विनोद काव्य शास्त्र के अंगों पर प्रकाश डालने वाली पुस्तक है। प्रथम चार विनोदों में तो छंदों का वर्णन है और उसके पश्चात् काव्य की कोटियों का निरूपण है। काव्य की परिभाषा देते हुए ग्रंथकार कहते हैं:

"गुनगन भूषन रस उचित, दूषन प्रगट न होय ।
बिग सु सब्दारथ सहित, कबित कहावै सोय ।।"

जो कि अधिकांश मम्मट के "तददोषौशब्दार्थो सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि" के आधार पर ही है। वर्णन-क्रम भी काव्य प्रकाश (संस्कृत) का-सा है, प्रथम शब्द शक्ति—इत्यादि·····।"[१] यहाँ हम श्री मिश्रजी के इस कथन की समीक्षा नहीं करना चाहते, पर इतना अवश्य कहना चाहते हैं कि यों तो हिंदी-साहित्य संस्कृत साहित्य-प्रणेताओं का अत्यधिक आभारी है,—पद-पद और शब्द-शब्द पर उसकी छाप है, फिर भी उसकी निजी विशेषताएँ हैं, अपनी परिपाटी है और कथन में—काव्य में अपना बाँकपन है। हिंदी के बहुत से आचार्य अपना ढंग लेकर चले हैं। वे संस्कृत का हृदय लेकर अवश्य आगे बढ़े हैं, किन्तु मार्ग अपना अपनाया है। प्रस्तुत ग्रंथ-ही लिया जाय तो कहना होगा कि वह संस्कृत के काव्य प्रकाश से सर्वथा भिन्न है, और उसका अपना नया ढंग है। लक्षण तो संतान में माता-पिता के समान होते हैं, पर उनकी खसूसियत और ही होती है·····।

"ज्यों-ज्यों निहारिऐ नेरे ह्वै नैनन, त्यों-त्यों खरी निखरै बो निकाई ।।"[२]

कवि 'जनराज' की काव्य-प्रतिभा के उदाहरण संकलित करना जरा कठिन सा प्रतीत हो रहा है। कविता रस विनोद की पिटारी के सभी अंगूर मीठे और सुस्वाद संपन्न हैं, फिर किसे अच्छा समझकर ग्रहण और खट्टा समझकर त्याज्य किया जाय तथा सब को

१. पृ० १५३-५४।
२. कवि मतिराम।

उद्धृत करना·····संपूर्ण ग्रंथ-लिखना होगा, जो समय और स्थान दोनों के लिये कठिन सिद्ध होगा। अतः दो-एक छंदों का उद्धरण कर इस दुस्साहस को नमस्कार करना होगा, यथा :

"प्रीति पुनीत सुरीति करि, अति प्रतीत उपजाय।
अरी लाज बैरिन खरी, छुटी न कोट उपाय।।"

"प्रेंम सों पगाई, नेंन नेह लगाई,
लोक-लाज बिसराई, कुल कांन लै नसावहीं।
अंषु सरसाई, रोइ-रोइ तरसाई,
ए बिरहा जराई अति आँखें दुख दावहीं।।
नींद बिसराई निस, द्यौसन जगाई,
'जनराज', ब्रज-सांई-बिन बेदन बढ़ावहीं।
स्यांम हैं तहांई, अब चलिऐ तौ उहांई,
कै स्यांम कों इहांई किन ज्याइकें मिलावहीं।।"

"ठौर-ठौर भूषन लसत, कंचन जरे जराय।
फरी बेलि कलधौत की, मनु मुक्ताफल पाय।।"

अंत में एक बात और, वह यह कि जनराज ने अपने तीन कवि-मित्रों—"महात्मा नाथूराम, कायस्थ खुशपालदास और राधाकृष्ण" के नामों का उल्लेख और किया है तथा इन्हें काव्य का श्रेष्ठ मर्मज्ञ भी लिखा है। अतः इनका अनुसंधान होना आवश्यक है।

पं० जवाहर लाल चतुर्वेदी

टिप्पणी—२

"डाक"

बंगाल में 'डाक' का बहुत प्रचलन है। जैसे हिन्दी में घाघ की कहावतें प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार बंगला में 'खना', 'रावण' और 'डाक' की कहावतें प्रसिद्ध हैं। घाघ से 'डाक' बहुत मिलते जुलते हैं। श्री आशुतोष भट्टाचार्य ने बाँगला ओ लोक साहित्य" में लिखा है, कि 'डाक' के वचन प्रधानतः नीतिमूलक हैं। 'डाक' कोई व्यक्ति विशेष नहीं है। बौद्ध तान्त्रिक साधकों के एक वर्ग को डाक कहा जाता है। बंगाल, आसाम और उड़िया इन तीन प्रदेशों में 'डाक' के 'छड़ा' प्रचलित हैं[1] —

बंगला— नियड़े पोखर दूरे जाय,
पथिक देख जे आइड़े चाय।
पर सम भाषे बाटे थिके,
डाक बले ए नारी घरे ना टिके॥

असमी— उचरत पुखरी दूरक जाय,
परक आशाये बाटे चाय।
परधर हन्ते राखिय नारी,
तेवेशे धर्मक राखि ते पारी॥

उड़िया— नियड़ा पोखर दूरे जात्र,
पथिक देख आइड़े चात्र।
पर समभाषे बाटे थिके,
डाके बोले ए नारी घररे ना टिके॥

'डाक' के प्रचलित 'छड़े' नीति मूलक मान्य हैं। इस 'डाक' के सम्बन्ध में भट्टाचार्य जी ने कुछ नवीन प्रकाश हमारे पत्र के उत्तर में डाला है, जिसका सारांश यह है।

---

१. बाँगलाओ लोक साहित्य-आशुतोष भट्टाचार्य पृष्ठ ६८, ११६, ४२१, ४२२.

यह एक विवादास्पद विषय है, कि 'डाक' वस्तुतः क्या है। कुछ लोग अभी तक 'डाक' को व्यक्ति विशेष मानते हैं। इनमें से उल्लेखनीय नाम दिनेशचन्द्र सेन का है, जो 'डाक' को 'व्यक्ति' मानते हैं जिसका सम्बन्ध ग्वाला जाति से था।[२]

आशुतोष जी ने 'बांगला ओ लोक-साहित्य' में जो मत प्रकट किया था, उसके अनुसार 'डाक' किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं है। जैसा ऊपर लिखा गया है डाक का बौद्ध तांत्रिक साधकों का एक वर्ग उन्होंने माना था। अब उनका कहना है कि वस्तुतः 'डाक' तिब्बती भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ सामान्य ज्ञान है। इस सम्बन्ध में नवीनतम खोज डा० नगेन्द्रनारायण चौधरी ने की है। इस खोज का परिणाम 'डाकार्णव' नामक डाक्टरेट के लिए डाका विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत प्रबन्ध में दिया गया है। इस सम्बन्ध में उनके विचार इस प्रकार है।

"अब हमें डाक शब्द की व्युत्पत्ति का पता लगाना चाहिए। यह शब्द 'वैदिक' भाषा में नहीं आता, और न कहीं प्राचीन संस्कृत काव्यों की भाषा में ही उपलब्ध होता है। इसी कारण इस शब्द के संबंध में सन्देह उत्पन्न होता है कि असली संस्कृत में इस शब्द का मूल अनुपलब्ध है। तिब्बती 'ग्डाग'—[Gdag] शब्द है जिसका अर्थ प्रज्ञा अथवा ज्ञान है, तिब्बती स्रोत से आया है।" यह नूतन मत ही ग्राह्य प्रतीत होता है। क्या हिन्दी का घाघ भी यही है।

'डाक' की कहावतों के अनेक संकलन कलकत्ते के प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित हो चुके हैं।

डॉ० सत्येन्द्र
तथा
श्री कैलाशचन्द्र भाटिया

---

२. 'वंग भाषा ओ साहित्य'-दिनेशचन्द्र सेन कलकत्ता १३३४ बी० एस० पृष्ठ ८२-८३

३. 'डाकार्णव' (Dākārnava) लेखक डा० नगेन्द्र नारायण चौधरी एम० ए०, पी-एच० डी० प्रकाशक मैट्रोपोलिटन प्रिंटिंग एण्ड पब्लिशिंग हाउस कलकत्ता पृष्ठ ५—६

टिप्पणी—३

"हिस्ट्री आफ् द उर्दू पोयट्स"
[History of the Urdoo Poets]

व्यस्थित रूप में लिखे गये हिन्दी साहित्य के इतिहासों की परम्परा का प्रारम्भ १९वीं शताब्दी में फ्रेन्च विद्वान् गार्सां दी तासी के इतिहास (Histoire de la Litrature Hindoue at Hindoustanie) "इस्त्वार द ला लितेरात्युर अँदूए एट ऐंदुस्तानी" से होता है। इसका प्रथम संस्करण १८३९ ई० में प्रकाशित हुआ और दूसरा भाग सन् १८४७ में। इस इतिहास से पूर्व कोई लिखित इतिहास प्राप्त नहीं होता है यद्यपि नाभा जी कृत भक्तमाल आदि ग्रंथ भक्त कवियों के जीवन पर प्रकाश अवश्य डालते हैं।

मौलवी करीमुद्दीन व फैलन महोदय ने १८४८ ई० में एक 'उर्दू साहित्य का इतिहास' अवश्य लिखा जिसका मुखपृष्ठ इस प्रकार है :—

A History of Urdoo Poets
Chiefly translated from 'Garcin de Tassy's
Histoire de La Literature Hindoue et Hindoustanie
by
Fallon and Moulvee Karumooddon Delhi College 1848.

इसके नीचे उर्दू में इस प्रकार है।

शुअराये उर्दू का मुस्तर एफ० फैलन बहादुर और मौलवी करीमुद्दीन ने गार्सा दी तासी के तारीख से १८४८ ईसवी में तर्जुमा किया और ९६४ शायरो उर्दू गो के अशआर और हाल को दवादीन मुरुतलीफ़ा में से मुन्तखब कर उसमें मुन्दर्ज किया गया ब एहतमाम सैयद असरफअली मतबा उलूम मदरसा देहली में है।

पुस्तक परिचय--डिमाई साइज से कुछ बड़े आकार में पुस्तक ५०१ पृष्ठों में छपी है। मूल्य ६ रुपया। सन् १८४८।

उक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि फैलन तथा करीमुद्दीन ने यह इतिहास ग्रन्थ तासी के प्रथम संस्करण के आधार पर लिखा। फिर भी इसका महत्व कम नहीं है, क्योंकि

इसमें अनेक नवीन कवियों का उल्लेख किया गया है। अनेक कवियों के जीवन तथा उनकी कृतियों पर भी नवीन प्रकाश डाला गया है। पुस्तक के नाम से केवल यह ज्ञात होता है, कि यह उर्दू साहित्य का इतिहास मात्र है, पर वस्तुतः ऐसा नहीं है। प्रारम्भ में ही हिन्दी तथा उर्दू भाषा पर लेखक ने पृथक् पृथक् विचार प्रस्तुत किये हैं। इस ग्रन्थ में निम्न हिन्दी कवियों का उल्लेख है।

बलराम, भूपति या भूदेव, बिहारीलाल, बीरभान, ब्रजबासीदास, देवराज, गोकुलनाथ, दादू, जायसी, कबीर, केशवदास, कृष्णदास, लाल, मतिराम, नाभा, नेवाज, नन्द, शिवनारायण, सुन्दरदास, सूरत, सूरदास, पद्माकर, तुलसीदास, गंग, चंद्र शर्मा।

इस प्रकार इस ग्रन्थ के द्वारा इतिहास ग्रन्थों की शृङ्खला में एक और कड़ी जुड़ जाती है। तासी व शिवसिंह सरोज के मध्य फैलन व करीमुद्दीन का नाम भी उल्लेखनीय हो जाता है।

श्री नारायण पांडे
तथा
डा० महादेव साहा

विद्यापीठ-संग्रहालय के हस्तलिखित ग्रन्थों का विवरण

(१)

विजयमुक्तावली [मं० क्रम० संख्या. १.]

ग्रंथ नाम	विजयमुक्तावली	भाषा	ब्रज
ग्रंथकार का नाम	छत्र	लिपि	नागरी
ग्रंथकार का स्थान	भदावर	अक्षरों की माप	$\frac{1}{4}''$
पत्र-संख्या	१०१	पूर्ण	पूर्ण
आकार (माप)	१३" × ७"	अपूर्ण	+
पंक्ति संख्या	१४	दशा	साधारण
परिमाण अनुष्टुप् छंद में	१५४७	लिपिकाल	+
ग्रंथ का कागज	देशी, बांसी	रचना काल	संवत् १७५०
सचित्र या अचित्र	अचित्र	लिपिकार का नाम	+
चित्र संख्या : रंगीन : सादा	+	प्राप्ति स्थान	विद्यापीठ, हिन्दी
विषय	ऐतिहासिक काव्य		आगरा।
गद्य-पद्य	पद्य		

ग्रन्थ का आरम्भिक अंश

श्री गणेशायनमः। अथ विजय मुक्तावली लिख्यते।

दोहा

ब्रज रक्षन भक्षन अनल रक्षन गोधन ग्वाल।
भुजवर करवर करज पर गिरवरधरन गुपाल।१
हरि दिपक मन सदन धरि कपट कपाट उघारि।
नसै सकल अघ कालिमा छत्र सुदेषि विचारि।२ दं

झूमि झूमि आए कोपि मघवा पठाए घन धारा दिसि दिसि निसि वासर लरज पर।
मेघ की मरोर महा पौन की झकोर झोरनि रदनिपट घोर घोष सों गरज पर।

राषे सुरपाल के कराल कोप तें गुपाल छत्र ह्वै दयाल गोपी ग्वाल की अरज पर।
हरिवरधारि गिरि मूल तै उधारि वर छाय ब्रज राख्यौ राषि करकी करज पर।३

सवैया

आनन एक कहै न को रि चतुरानन चारि हू वेद वतावै ।
जे रिषि वृद्ध प्रसिद्ध हैं सिद्ध सदा मन वंछित सिद्धि सुपावैं ।
नारद सारद जीवत है सनकादि सुकादि सवै गुन गावैं ।
वंदत येम वमेष सुरेस दिनेग धनेम गनेसहि गावैं ।४

दोहा

जग जननी जग वंदनी जगपावन सुख कारि ।
गिरा सुथिर वुधि दीजियै वरनै ग्रंथ विचारि ।५
मथुरा मंडल मै वसें देस भदावर नांव ।
ऊखिल तहा प्रसिद्धि महि छेत्र वटेश्वर गांव ।६
वा मग तत कौ पग परत अघ कौ लेस रहैन ।
विकट जटे संकट कटे तद तट सदा सिव नैन ।७
सूछम थूल समूल अघ जरेजात सब मूल ।
फूल होत मन मैं महा निरखि कलिंदी कूल ।।८

मध्य

फिरि सौ जु रचौ न करि वरजोर दोवरकीनौ मल्ल मरोर ।
देखत सभा सकल नर हर्षे वसन रतन मनि मालनि वर्षे ।२१
मृतक दियौ सुर सुरी वहाई तव सब समदे राजा राई ।२२

दोधक

मत्तगयंदहु तौ इक ऐसो अंजन कौ भुव भूधर जैसो ।
नीर निकेत सुछोरि चलायौ गर्जत धांमनि डारत आयौ ।२३
कांनि महावत की न करै ज्यौं प्रान तजै ढिग आवत है ।
ज्यौं सुंदर मंदिर डारि दये जू भयभीत सबै नर नारि भये जू ।२४
भूपति सौ सब लोग पुकारै है नर केतक कुंजर भारै ।
ताहितकै तिनि लोग पठाये वांधहु याकहु भाषत आये ।२५

चौ० भैरवी

कोऊ निकट सकै न आय भूपति सातव कही सुनाय ।
क्यो हू हाथ न कुंजर आवै करै उपाव सु भूप बतावै ।२६

राजोवाच

कै सब मिलि कै बांधहु जाइ कै अब सबपु बधौ किनि ताहि ।
बोल जयंतै अग्या दई या गयंद ते चिंता भई ।२७
कै बल बांधि कै ताकहुँ मारि पुरकौ कंटकहि निकारि ।
करै जयंत जु मारै याहि कुंजर कौं जिनि पकरौ ताहि ।२८
सिंघनाद गरज्यौ वर वीर तब गयंद थरहर्यौ सरीर ।
पुंछ पकरि झकझोर्यौ ऐसौ दावत मृगकौ चितो जैसौ ।२९
पकरि रदन गहि पहु च्यौ थान ज्यौ अ क्या गहि लीजत कांन ।
बांधि ताहि भूपहि गिरनायौ तब जयंत बसननि पहिरायौ ।३०

दोहा

इहि विधि वीते मास दस नृप विराट के तीर ।
काल छेप करते रहै पंडु पुत्र वर वीर ।३१

इति श्री महाभारथ पुराणे विजय मुक्तावली गजवंदन वर्ननं नाम द्वाविंशोध्याय:

अंत

चार वर्न में जो सुने तरुनी पुरुष जो कोइ ।
प्रगटे हरि की भक्त उर मोचन अघ को होइ ।

सवैया

जो फल तीरथ जात किये अरु जो फल षोडस दान दियें तें ।
ग्यांन कथानि सुनें फल जो कवि छत्र वढ्यै चहु वुद्धि हियै तें ।
जो फल संजम नेम कियौ अरु जो फल है सत जग्य कीयै ते ।
जो फल रुद्र प्रसन्न भये फल जोई युधिष्ठिर नाम लियै ते ।
सेवत साधिनि सिद्धाने कौ अरु जो फल इस प्रसन्न भये ते ।
तीरथ राज प्रयाग गये अरु सागर संगम गंग गयें ते ।
जोग कीयौ वृत्त नेम कियौ अरु उषित सप्त पुरी निस धाये ते ।
जाप जपै भगवंत भजै जप जाप जपै सुधि दिस्टि रमायै ।

दोहा

अष्टा दसौं पुरान कौ सुनत जगत सब कोइ ।
सुनत बीजय मुक्तावली ते तोई फल होइ ।

वरन्यो ग्रंथ जु छत्र कवि अपनी मत अनुसार।
छमियौ चूक वुधीस सब कविता समझन हार।

सवैया

व्याल धरै ससि भाल धरै गज चाम धरै तन भस्म लगावै।
गंग धरै अर गंध धरै सिवारिगतून त्रिसूल भिम छावै।
वैल धरै सिरमाल कपाल धरै विष कंठ महासुष पावै।
असी दिसा सिव होय प्रसन्न सुछत्र विजै मुक्तावली गावै।
छत्र कहत कर जोरिकैं हौ सुकवितन को दास।
भारत की भाषा करि बचन सुनें जो व्यास।

दोहा

फौजदार चारि त नसै भूपति सिंघ कल्यान।
पूरन कीनो ग्रंथ कवि छत्र सु तिहि अस्थान।

इति श्री महाभारत पुराणे विजय मुक्तावली संपूरणं ऽध्याय त्रय चत्वारिसोध्याय ४३

हाशिये पर दूसरी स्याही और दूसरी कलम से ये दोहे और लिखे हुए हैं।

सवा लक्ष भारथ कि संख्या कहित हैं मुनि व्यास।
हरि के पंथ प्रताप तै कौरव भये निरास।
छत्र कहत कर जोरि कै हौं सुकवितन को दास।
भारत की भाषा करी वचन सुने जो व्यास।३२

टिप्पणी

इस ग्रंथ की दो अन्य प्रतियों का पता नागरी प्रचारिणी सभा के खोज विभाग को लग चुका है और उनका विवरण, छ-२३ और ज ४८ रिपोर्टों में दिया गया है। उनमें से (ज) रिपोर्ट के पृष्ठ ८७ पर इसका विवरण दिया गया है जिसमें कवि के विषय की अन्य सूचनाओं के साथ उसके निवास स्थान आदि का द्योतक यह दोहा भी दिया हुआ है:—

"श्री वास्तव कायस्थ है, छत्रसिंह इहिनाम।
बसत भदावर देम में यह अटेर सुषधाम"

और इस प्रति में—

'मथुरा मंडल में वसें देस भदावर नांव।
ऊखिल तहाँ प्रसिद्धि महि छेत्र वटेश्वर गाँव।६

श्रीवास्तव जो सुक्ल है छत्रसिंह इह नाम ।
बसत भदावर देस मै ग्रह् अटेर रज धाम ।"

तथा ग्रंथ का रचना काल इस दोहे में दिया हुआ है:—

संवत सत्रह् सै वरष सप्त वाढ़ि पंचास ।
सुकल पक्ष एकादशी रच्यौ ग्रंथ नभ मास ।।१६

खोज रिपोर्ट में ग्रंथ का रचना काल १७०० ई० और लिपि काल १८०२ ई० दिया हुआ है । उक्त विवरण में लिपि काल तो अंतिम पुष्पिका के अनुसार दिया हुआ है, परंतु रचनाकाल को प्रकट करने वाला कोई उदाहरण नहीं है ।

पूरा ग्रंथ एक सौ एक १०१ पत्र का है जिसमें ४३ अध्यायों में कथा समाप्त हुई है । ग्रंथ में पत्र संख्या के दो खंड हैं । पत्र १ से ४८ तक २२ अध्याय और फिर २३वें अध्याय के आरंभ से १ से संख्या आरंभ की गई है। अक्षरों की बनावट देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि इसे दो व्यक्तियों ने लिखा है । ग्रंथ में सर्वत्र ब्रजभाषा का प्रयोग हुआ है । भाषा साफ सुथरी है । ग्रंथ में राजा कल्यान सिंह की प्रसंशा की गई है । जो निश्चय ही कवि के आश्रय दाता रहे होंगे । संभव है कि ये राजा कल्यानसिंह भदावर के राजा हों । भदावर आगरे के निकट एक छोटी रियासत थी ।

ग्रंथ में ४३ अध्याय हैं । जिनकी विषय-सूची इस प्रकार है:—

१. व्यासावतार
२. धृतराष्ट्र-पांडुजन्म
३. पांडु-वर्नन
४. दुर्योधन अवतार
५. अर्जुन नकुल सहदेव अवतार
६. कौरव भीम संवाद
७. अर्जुन विजय वर्नन
८. भीमसेन अहलमती पाताल विवाह वर्नन
६. रौरावत आगमन वर्णन
१०. घरू कानन वर्नन
११. वक दानव बध
१२. अहिवरन आदि पुत्रोत्पत्ति वर्नन
१३. इंद्र वनषंड वर्नन
१४. जरासंध वध
१५. शिशुपाल वध
१६. द्रौपदी अक्षयदुकूल वर्नन
१७. दुर्योधन जूप वर्नन
१८. अर्जुन विजय
१६. नहुष मोक्ष वर्णन
२०. दुर्योधन मानभंग वर्णन
२१. पांडव अज्ञात वास वर्णन
२२. गज वंदन वर्णन
२३. कीजक बध वर्णन
२४. अर्जुन विजय
२५. अभिमन्यु विवाह
२६. कृष्ण दुर्योधन संवाद
२७. दुर्योधन युधिष्ठिर सेना वर्णन
२८. भगवद्गीता ज्ञान वर्णन
२६. कौरव वध भीमसेन विजय वर्नन
३०. भीष्म पितामह मोहन
३१. भगदंत देह भग्न
३२. चका व्यूह वर्नन
३३. अभिमन्यु वरनन
३४. अभिमन्यु वरनन

३५. अभिमन्यु हनन
३६. जयद्रथ बध
३७. गुरुद्रोन वध
३८. सकुनि दुसास द्रुपद वध
३९. कर्मवीर संमोहन
४०. सल्यवध वरनन
४१. गदायुध, दुर्योधन संमोहन
४२. दुर्योधन वध
४३. पांडव विजय

ग्रंथ में महाभारत की कथा के अनुसार व्यासावतार से आरंभ करके राजा युधिष्ठिर के राज्यारोहण तक की कथा का वर्णन ४३ अध्यायों में किया गया है। ग्रंथ में, सवैया, दोहा, दंडक, दोधक, भुजंगप्रयात, तोटक, छप्पय, नगस्वरूपिणी, नाराच आदि छंद प्रयोग में आए हैं। पर आश्चर्य यह है कि चौपाई के साथ सभी रागिनियों के नाम जोड़ दिए गए हैं—जैसे काफी, कान्हडी, परज, खमांच, कालिंग, भैरवी, किलावल, सारंग, सोरठ, झँझौटी, धनाश्री, पुरवी, आदि का नाम भी जोड़ दिया गया है। इन रागिनियों के नामों की कोई संगति यहाँ नहीं लग रही है।

ग्रंथ की लिथो मुद्रित दो तीन प्रतियाँ भी देखने में आई हैं। पर उनमें अध्यायों के बंधान में आपस में भेद है। वैसे मूल पाठ में इस हस्तलेख में कोई अन्तर नहीं है। कविता में प्रवाह तो है परंतु ओज कम है।

(२)

विविध पद संग्रह　　　　[सं० क्र० सं० १९]

ग्रंथनाम	विविधपद संग्रह	भाषा	ब्रज
ग्रंथ कार का नाम	+	लिपि	नागरी
ग्रंथ कार का स्थान	+	अक्षरों की माँप	$\frac{1}{4}$"
पत्र संख्या	२७	पूर्ण	पूर्ण
आकार	१६$\frac{1}{4}$" × १४"	अपूर्ण	+
पंक्ति संख्या	२२	दशा	जीर्ण
परिमाण अनुष्कुप् छंद में	१२२५	लिपिकाल	सं० १९८९
ग्रंथ का कागज़	देशी बांसी	रचनाकाल	+
सचित्र या अचित्र	अचित्र	लिपिकार का नाम.	सेवक शरण शर्मा
चित्र संख्या	+	प्राप्ति स्थान.	हिंदी विद्यापीठ, आगरा।
विषय	भक्ति		
गद्य पद्य	पद्य		

ग्रंथ का आरंभिक अंश

श्री राधाकृष्णाभ्यांनयः ।। अथ प्रातकाल के पद ।। राग रामकली

मोहन जागिहो वलि गई।
ग्वालवाल सब द्वार ठाढ़े वेर वन की भई।
पीत पट करि दूर मुखते छाँडिदे अर सई।
अति अनन्दित होत यशुमति देखि दुति नित नई।

जगे जंगम जीवपशु खग और व्रज सबई।
सूर के प्रभु दरस दीजे अरुन किरन छई। १

राग रामकली

भोर भयो जागो हो ललना कहा तुम अजहूँ रहे हो सोय।
पिओधार अपनी धौरी को जैसें देह बल होय।
वेनी गुहूँ देऊँ दृग अंजन मसिविंदु का मुख धोय।
हँसत वदन सुख सदन निहारो नान्हीं नान्हीं दतियाँ दोय।
टेरत ग्वाल वाल खेलन को गोरंभनहू होय।
व्रज जन सब ठाड़ों मुख देखन अति आरत सब कोय।
उठि वैठे लये गोद यशोदा सुंदर सुततिहुँ लोय।
रसिक प्रीतम लगि गरे जननि से मागत रोटी रोय। २

राग रामकली

मैया तेरे लाल को मुख देखन हों आई।
काल्हि मुख देखि गई दधिवेचन जातहि गयो है विकाई।
दिन ते दूनो दाम लाभ भयो गाइनि वछिया जाई।
आई सवै थंभाय साथ की गिरिधर देहु जगाई।
सुनि त्रिय वचन विहँसि उठि वैठे नागरि निकट बुलाई।
परमानन्द सयानी ग्वालिन चली संकेत वनाई। ३

राग रामकली

लाल कौ दरसन भयो सवेरौ।
वहुत लाभ पाऊंगी माई दहेत्र विकैहै मेरौ।
गली जू साँकरि एक जो नीको भेट भयो भटे भेरो।
अंक दे चली सयानी ग्वालिन हरि को वदन फिरि हेरौ।
प्रातहि मंगल भयो सखीरी ह्वै है सब काज भलेरौ।
परमानन्द प्रभु मुख निरखत मिटयो भवसागर फेरौ। ४

राग रामकली

डगमग चलति अवरही भाँति
नव निकुंज ते राधा भामिनी अरुण उदै घर जाती।
रति की केलि सुमिरि मृगनैनी वार वार मुसकाती।

निशि के चिन्ह प्रकट देखियत हैं काम केलि कुलकाँती ।
प्रीतम प्राण रतन संपुट कुच भेट जु गई छाती ।
नंद कुमार सुरत संग लीने शरद विमल की राती ।
कृष्णदास गिरिधर पिय के संग अधर सुधारस पाती । ५

मध्य

सातैंरासि मेलि द्वादश में कटिमेखला अलंकृतसाजत ।
पृथ्वी मथी पिता सौं लैकर मुख समीप मुरली धुनि बाजत ।
जलधि तात तेहि नाम कँठ के तिनके पंखमुकट सिर भ्राजत ।
सूरदास कहे सुनहु गूढ़हरि भक्तनि भजत अभक्तनि भ्राजत ।६

राग नट

हरि तन मोहनी माई ।
अंग अंग अनंग सत सत बरनि नहिं जाई ।
कोउ निरखि बिथुरी अलक मुख अधिक सुखदाई ।
कोउ निरखि रहि भाल चंदन एक चित लाई ।
कोउ निरखि रहि चारु लोचन निमिष भरमाई ।
सूर प्रभु की निरखि शोभा कहत नहिं आई ।६१

राग गुर्जरी

श्याम अंग जुवती निरखि भुलानी ।
कोउ निरखति कुंडल की आभा इतनेहिं मांझ बिकानी ।
ललित कपोल देखि कोउ अटकी सिथिल भई ज्यों पानी ।
देह गेह की सुधि नहिं काहू हरषति कोउ पछितानी ।
कोउ निरखति ही ललित नासिका यह काहू नहिं जानी ।
कोउ निरखति अधरन की सोभा फुरति नहीं मुख बानी ।
कोऊ चक्रत भई दसन चमक पर चक चौंधी अकुलानी ।
कोउ निरखति दुति चिबुक चारु की सूर तरुनि बितलानी ।६२

राग बिलावल

श्याम हृदै वर मोतिमाला ।
बिथकित भईं निरखि ब्रजबाला श्रवण थके सुनि वचन रसाला ।
नयन थके दरसन नंदलाला । कंबु कंठ भुजदंड बिसाला ।

कर केयूर कुचन नगझाला । पल्लव सहित मुद्रिका भ्राजै ।
कौस्तुभमणि हृदय स्थल छाजै । रोमावली वरनि नहिं जाई ।
नाभि स्थल की सुंदरताई । कटि किंकिनी चारु मणि संजुत ।
पीतांबर कटि तट छवि अद्भुत । जुगल जंघ की पटतर को है ।
तरुणी मन धीरज को जो है । जानु जघन की छविन सवारै ।
नारि निकर मन बुद्धि विचारै । रतन जटित कंचन कलनूपुर ।
मंद मंद गति चलत मधुर सुर ।
जुगुल कमल पद नख मणि अभा संतनिमन संतत जहँ लोभा ।
जो जेहिं अंग सु तहाँ भुलानी । सूर श्याम गति काहु न जानी ।३

अन्त

...... मान तजिमानिनी मैन को वल हत्यो
करत तनु कंत के त्रास भारी ।
कोक विघा निपुन श्याम श्यामा विपुल कुंजगृह द्वार ठाढे सुसारी ।
भक्त हित हेत अवतार लीला करत रहत प्रभु--
तहाँ निजुध्यान जाके ।
प्रगट प्रभु सूर ब्रज नारि के हित वंध देत मन काम फल संग ताके ।

४७।। इति श्री मानलीला संपूर्णम् ।

दोहा

श्री वृन्दावन धाम में घेरा व्यास अभिराम ।
पन्नावारी कुंज है सेवक शरण जु नाम ।

मिती चैत्र शुक्ल १, चंद्रवार संवत १९८९ गत हस्ताक्षर पं० सेवक शरण शर्म्मा ।

टिप्पणी

प्रस्तुत ग्रंथ १९½" × १४" आकार वाले बड़े बड़े पत्रों पर सं० १९८९ में सेवक शरण शर्मा के द्वारा वृंदावन में लिखा गया है जिसका परिचायक यह दोहा है:—

श्री वृन्दावन धाम में घेरा व्यास अभिराम ।
पन्नावारी कुंज है सेवक शरण जु नाम ।

और मिती चैत्र शुक्ल १ चंद्रवार संवत् १९८९ गत हस्ताक्षर पं० सेवक शरण शर्मा ।

इसमें यमुना जी के पद, रास के पद, श्री राधाजी के अनुराग लीला को प्रसंग, जमुना स्नान तहाँ भगवद्दर्शन, राधा जी को बड़ौ मान शीर्षक प्रकरणों के अन्तर्गत, सूरदास, परमानंद दास, कृष्णदास, कुंभनदास, रसिक, हितहरिवंश, छीत स्वामी आदि के पदों का संग्रह है जिसमें सूरदास जी के १६७ पद हैं। इन पदों को निम्न रागों से संबोधित किया गया है:—

कल्यान, राग सोरठ, राग गौरी, रागसूहोविलावल, रामकली, जैत श्री, सारंग, चर्चरी, नट, धनाश्री, केदारो चर्चरी कान्हरा, मारू चर्चरी, पूर्वी, मलार, आसावरी, टोड़ी, (राग केदारो रायसा) दूती कान्हरा।

यह संग्रह किसी ने अपनी रुचि के अनुसार किया है जिसमें कुछ प्रसंगों के पद हैं। इस में सबसे बड़ी संख्या सूरदास के पदों की है। इसलिए सूर साहित्य के अनुसंधित्सुओं इन पदों का कई दृष्टियों से बड़ा महत्व है।

ग्रंथ बहुत साफ सुथरे अक्षरों में लिखा गया है सर्वत्र काली रोशनाई और पंक्तियों को विभक्त करने के लिए एवं शीर्षकों को लालस्याही से लिखा गया है। काली स्याही में गोंद अधिक होने से बीच के १०-१० पत्र आपस में चिपक गए थे, जिन्हें सावधानी से न खोलने के कारण दोनों पत्र खुरच से गए हैं। पर सावधानी से देखने पर पाठ के उद्धार में कोई कठिनाई नहीं उपस्थित होती।

(३)

रामचरितमानस [सं० क्र० सं० ३३]

ग्रंथनाम	राम चतिमानस	गद्य पद्य	पद्य
ग्रंथकार का नाम	तुलसीदास	भाषा	अवधी
ग्रंथकार का स्थान	काशी	लिपि	नागरी
पत्र संख्या	३०१	अक्षरों की माप	$\frac{1}{8}$"
आकार (माप)	१०$\frac{3}{4}$" × ५$\frac{1}{2}$	पूर्ण	पूर्ण
पंक्ति संख्या	२४	अपूर्ण	×
परिमाण अनुष्टुप छंदमें	४६६७	दशा	अत्यंत जीर्ण
ग्रंथ का कागज	देशी बांसी	लिपिकाल	सं० १८२८
सचित्र या अचित्र	अचित्र	रचना काल	सं० १६३१
चित्र संख्या (रंगीन) सादा	+	लिपिकार का नाम, मुक्ता प्रसाद	
विषय	काव्य	प्राप्ति स्थान, हिंदी विद्यापीठ, आगरा।	

ग्रंथ का आरंभिक अंश

श्री जानकीनाथाय नमः ॥ श्री गणेशाय नमः ॥ श्री सारदायै नमः ॥ श्री गुरुभ्यो नमः ॥ श्लोक श्री वर्णानामर्थसंघानां रसानां छंदसामपि।

मंगलानां च कर्त्तारौ वंदे वाणी विनायकौ ।।१
भवानी शंकरौ वंदे श्रधा विश्वाशरूपिणौ ।
याभ्यां विना न पश्यंति सिद्धाश्वांतस्थमीश्वरं ।।२
वंदे बोध मयं नित्यं गुरुं शकर रूपिणौ ।
यमाश्रितोहि वक्रोपि चंद्र सर्वत्र वंद्यो ।।३
शीतारामगुणग्रामौ पुण्यारण्यविहारिणौ ।
वंदेविसुद्धविज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ ।।४
उद्भवस्थितिसंहारकारणीं क्लेशहारिणीं ।
सर्वश्रेयस्करीं शीतां नतोहं रामवल्लभां ।।५
यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं व्रह्मादि देवाशुरा
यत्सत्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथा हेर्भ्रमः ।
यत्पादप्लवमेकमेव हि भवां भोधेस्तितीर्षा वतां-
वंदेहं तममेष कारणपरं रामाख्यमीशं हरिं ।।६
नाना पुराण निगमागम सम्मतं यद्रामायणे निगदितं कुचदन्यतोपि ।
स्वांतः सुखाय तुलशी रघुनाथ गाथा भाषा निबंध मति मंजुलमातनोति ।।७

दोहा

जेहि सुमरैं सिद्ध होय गणनायक करिवर वदन ।
करहु अनुगृह सोय बुद्धि राशि सुभगुण सदन ।

सोरठा

मूक होंइ वाचाल पंगु चढ़ैं गिरिवर गहन ।
जासु कृपा सो दयाल द्रवौ शकल कलि मल दहन ।
नील शरोरुहस्याम तरुण अरुण वरिज नयन ।
करौ सो मम उरधाम सदा क्षीर सागर सयन ।
कुंद इंदु दर देह उमारवनं करुना अयन ।
जाहि दीन पर नेह करौ कृपा मर्दन मयन ।

मध्य

रजि सिर धरि हिय नैनन लावहि । रघुवर मिलन सरस सुषपावहि ।
देषि भरत गति अकथ अतीवा । प्रेम मगन मृग षग जड जीवा ।
सषहि सनेह विवस मग भूला । कहि सुपंथ सुर वरषहि फूला ।

निरष सिद्ध साधक अनुरागे । सहज सनेह सराहन लागे ।
होतन भूतल भाव भरत को । अचर सचर चर अचर करत को ।

दोहा

प्रेम अमीय मंदर विरह भरत पयोधि गभीर ।
मथि प्रगटेउ सुर साध हित कृपा सिंधु रघुवीर ।

चौपाई

सषा समेत मनोहर जोटा । लषेउ नलषन सघन वन वोटा ।
भरत दीष प्रभु आश्रम पावन । सकल सुमंगल सदन सुहावन ।
करत प्रवेश मिटेउ दुषदावा । जनु जोगी पर मारथ पावा ।
देषे भरत लषन प्रभु आगे । पूछत वचन कहत अनुरागे ।
सीस जटा कटि मुनि पटि बांधे । तून कसै कर सर धनु कांधे ।
वेदी पर मुनि साधू समाजू । सिया सहित राजत रघुराजू ।
वलकल वसन जटिल तन स्यामा । जनु मुनि वेष कीन्ह रतिकामा ।
कटि कमलन्ह धनु सायक फेरति । जियकी जरन हरत हंसि हेरति ।

दोहा

लसत मंजु मुनि मंडली मध्यसिया रघु चंद ।
ज्ञान सभा जनु तनु धरे भगत सच्चिदानंद ।।

चौपाई

सानुज सषा समेत मगन मन । विसरे हरष सोक दुष सुष गन ।
पाहिनाथ कहि पाहि गुशांई । भूतल परेउ लकुटि की नांई ।
वचन सप्रेम लषन पहचाने । करत प्रनाम भरत जिय जाने ।
वंधु सनेह सरस एहि वोरा । उत साहिब सेवक वर जोरा ।
मिलन जाइ नहि गुदरत वनई । सुकवि लषन मन की गति भनई ।
रहे राष सेवा भर भारू । चढ़ी चंग जनु षेच षिलारू ।

अंत

कार तुलसी दास तथा मानसं ।१
पुण्य पाप हरं सदा शिव करं विग्यान भक्ति प्रदं ।
माया मोह मलापहं सु विमल प्रेमांवु पूरं सुभं ।
श्री मद्रामचरित्त मानस मिदं भक्तया वगाहंतिये ।

ते संसार पतंग घोर किरणै दह्यत नो मानवा ।२
इति श्री राम चरित्र मानसे सकल कल कलुष विध्वंसने विमल० वैराग्य संपादनी नाम सप्तमो सोपान ।।७।। संवत् १८२८ आसौज मासे कृष्न पछे तिथ ५ मंदवासरे शुभ अस्थान दिल्ली गुजर चांदनी चौक कूचा नटवा स्वगृह मिदं लिषतं मुक्ता परशाद कायस्थ उनाये वेटा व्रजराज कापोता किशोर दास का वासी घाटमपुर सरकार कोरा सूबा इलाहाबाद व्यास पूनौं कों आरंभ करा कुंवार की पंचमी को संपूरन भई महीने २ दिन ५ में लिषी शुभं भवेत श्रीराम श्रीराम श्रीराम ।

इसके बाद इसी पृष्ठ पर दूसरी कलम और दूसरी स्याही से तुलसीदास का यह पद "प्रात काल रघुवीर वदन छव चितौ चतुर चित मेरे" लिखा हुआ है

टिप्पणी

वैसे तो अब तक रामचरित मानस की प्रतियाँ—श्रावण कुंज अयोध्या की सं० १६६१, महाराज बनारस की सं० १७०१, राजापुर की प्रति, सेवादास की सं० १७२२, दुलही की प्रति आदि जो मिल चुकी हैं उनके सामने इस प्रति का कोई विशेष महत्व नहीं है, पर इस प्रति की एक अपनी विशेषता है। वह यह कि इसमें लिपिकर्त्ता ने अपना पूरा विवरण दिया है। यही नहीं प्रत्येक कांड की समाप्ति पर उसकी पुष्पिका दी है। जिसमें सन् संवत् आदि के साथ अपना परिचय भी। बालकांड की अंतिम पुष्पिका में लिखा है "पठनार्थे अपने" अर्थात् लिपिकर्त्ता ने स्वयं अपने लिए यह प्रति तैयार की थी। बाद को किसी ने पंक्तियों के बीच-बीच में कहीं-कहीं अर्थ भी टांक दिया है। कहीं-कहीं छूट को सुधार भी दिया है। लिपिकार ने अपना परिचय यह दिया है, "संवत् १८२८ असौज मासे कृष्न पछे तिथ ५ मंदवासरे शुभ अस्थान दिल्ली गुजर चांदनी चौक कूचा नटवा स्वगृहे मिदं लिषतं मुक्ता परशाद कायस्थ उनाये बेटा व्रजराज का पोता किशोरदास का वासी घाटमपुर सरकार कोरा सूबा इलाहाबाद व्यास पूनों को आरंभ करा कुंवार की पंचमी को संपूरन भई महीने २ दिन ५ में लिखी शुभं भवेत।"

अर्थात् संवत् १८२८ के आश्विन मास के कृष्णपक्ष मंगलवार पंचमी तिथि को किशोरदास के पौत्र व्रजराज के पुत्र मुक्ता प्रसाद कायस्थ उनाये ने चाँदनी चौक कूचा नटवा दिल्ली में अपने निवास स्थान में पोथी लिखकर तैयार की। यह मुक्ता प्रसाद घाटमपुर [जो अब कानपुर जिले की एक तहसील है] सूबे इलाहाबाद के निवासी थे।

लिपिकार ने भाषा विषयक भूलें काफी की हैं। कुछ तो प्रदेश भेद से और कुछ आदर्श भेद से भी, तो भी कहीं-कहीं पाठ का मूल रूप पकड़ में आता है।

लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी, पुस्तकालय

Lal Bahadur Shastri National Academy of Administration Library

मसूरी

MUSSOORIE

अवाप्ति सं०

Acc. No............................

कृपया इस पुस्तक को निम्नलिखित दिनांक या उससे पहले वापस कर दें।

Please return this book on or before the date last stamped below.

दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.	दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.

सम्मतियाँ

"भारतीय साहित्य' की प्रतियाँ मिलीं। बहुत ज्ञानवर्धक और उपादेय सामग्री आपने संगृहीत की है। मुझे विश्वास है कि आपके सद्उद्योग से आगरा में हिन्दी साहित्यिकों का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन जायगा।

जगदीशचन्द्र माथुर
आई० सी० एस०
डाइरेक्टर जनरल, आकाशवाणी
ब्राडकास्टिंग हाउस, नई दिल्ली

भारतीय ... य
साहित्य में प्रका... ती
व्यक्तित्व है जिसके ... स
की कामना करता ...

आपका ... मे
"भारतीय साहित ... च
"भारतीय साहित